चीन

जैन इतिहास

तीसरा भाग।

लेखक:—
पं० मूलचन्द्र जैन वत्सल
विद्यारत्न दमोह

भारतीय ज्ञानपीठ काशी

ज्ञानपीठ-ग्रन्थागार

"णाणं पयासयं"

कृपया—

(१) मैले हाथोंसे पुस्तकको स्पर्श न कीजिये । जिल्दपर काग़ज़ चढ़ा लीजिये ।

(२) पन्ने सम्हाल कर उलटिये । थूकका प्रयोग न कीजिये ।

(३) निशानीके लिये पन्ने न मोड़िये, न कोई मोटी चीज़ रखिये । काग़ज़का टुकड़ा काफ़ी है ।

(४) हाशियोंपर निशान न बनाइये, न कुछ लिखिये ।

(५) खुली पुस्तक उलटकर न रखिये, न दोहरी करके पढ़िये ।

(६) पुस्तकको समयपर अवश्य लौटा दीजिये ।

"पुस्तकें ज्ञानजननी हैं, इनकी विनय कीजिये"

प्रकाशकीय

श्रीमती रमादेवी जैन शास्त्री, न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न जैन महिला समाज में अपना विशेष स्थान रखती हैं। भगवान महावीर पर अनेकों जीवन चरित्र लिखे गये किन्तु प्रस्तुत पुस्तिका अपने ढंग की निराली है। विदुषी लेखिका ने जीवन चरित्र के उस समय का अच्छा इतिवृत दिया है जिस समय भगवान महावीर ने इस भारत वसुन्धरा को सुशोभित किया था। उन्होंने उस समय के महिला समाज की स्थिति पर भी प्रकाश डाला है। लिखती भी क्यों नहीं, वे स्वयं भी एक सुबोध महिला हैं।

दिगम्बर और श्वेताम्बर जैन समाज में कई स्थलों पर महावीर के जीवन सम्बन्धी कुछ मतभेद हैं किन्तु रमा देवी ने उन विवादास्पद विषयों को छोड़कर केवल जीवनोपयोगी घटनाओं और सिद्धान्तों को ही महत्व दिया है।

हमें आशा है कि वे अन्य निबन्ध लिखकर अहिंसा मन्दिर को अवसर देंगी कि हम उनके और भी प्रकाशन जनता के सामने प्रस्तुत कर सकें।

समर्पण

दिल्ली के यशस्वी अनुभवी

राजवैद्य श्रीमान् लाला महावीरप्रसाद जी जैन

(मालिक फर्म–राजवैद्य श्री शीतलप्रसाद एण्ड सन्स, दिल्ली)

जिन्होंने मुझे आरोग्य प्रदानकर नव जीवन दान दिया,

के

कर-कमलों में

श्रद्धा के साथ

समर्पित

—'रमा'

भगवान् महावीर

वे महा प्रभु, विश्व के विभु, सत्य के अवतार थे ।
वे जगत की चेतना के, नियम के संसार थे ।।
वे अहिंसा विश्व समता, दया विद्या धाम थे ।
वे सुकवि की कल्पना से मञ्जु मृदु अभिराम थे ।।

× × ×

विभव के धन, सुधा के धन स्वर्ग साधन को प्रणाम ।
गृही के जप, साधु के तप, सुख विटप 'जिन' को प्रणाम ।।
आधि-व्याधि उपाधि के, सब दोष हर शङ्कर प्रणाम ।
बुद्धि के बल शुद्ध केवल, भक्त के मलहर प्रणाम ।।

(श्री उदय शङ्कर भट्ट)

महावीर जैसे मौन सेवा-व्रती थे; वैसे ही एक महान् विचारक, सफल प्रचारक, उग्र क्रान्तिकारी, प्रवुद्ध बुद्धिवादी, महा महिम-विभूति-शाली एवं विश्व-शान्ति के अग्रदूत भी थे। त्रस्त जनता को शान्ति सन्देश देने, दुखातुरों को त्राण देने, वे उस समय आये जब वर्बर दानवता के पञ्जे में फँसी मानवता त्राण के लिये कराह रही थी ! प्राण के लिये छटपटा रही थी !! जीवनदान के लिये आशाभरी दृष्टि लिये कोने में विलख रही थी !!!

कारण ? राजनैतिक, आर्थिक और शैक्षिक स्थिति के सम होने पर भी सामाजिक, धार्मिक स्थिति विषम हो चुकी थी ! मानव मानवता भूल चुके थे ! धर्म के नाम पर मानव का मूल्य मूक बराबर तथा मूक प्राणी का मूल्य मिट्टी प्रस्तर बराबर भी न रह गया था ! परिस्थिति को सत्यालोक में परखने का प्रयत्न कीजिये ।

महावीर की समकालीन स्थिति

राष्ट्र, देश, धर्म या व्यक्ति की उन्नति अवनति में सामयिक परिस्थितियों का महत्व पूर्ण योग रहता है इसलिये उनका प्रमाणित परिचय प्राप्त करते समय तात्कालिक परिस्थितियों का अनुशीलन आवश्यक हो जाता है । भगवान् महावीर के प्रभावक व्यक्तित्व को १. राजनैतिक, २. शैक्षिक, ३. आर्थिक, ४. सामाजिक एवं ५. धार्मिक परिस्थितियों के दर्पण में इस तरह प्रतिबिम्बित देखिये ।

राजनैतिक स्थिति

गणतन्त्र प्रणाली पूर्व विकसित रूप में न थी किन्तु जितने गणतन्त्र थे वे अत्यन्त समृद्ध और बलशाली थे । संघों के संगठन में लिच्छवि-संघ विशेष प्रभावक एवं महत्त्वशील था । मगध का साम्राज्य भी अति विस्तृत एवं प्रभावशाली था परन्तु दोनों के पारस्परिक सहयोगी अब एक दूसरे के बीच मित्रता की कड़ियों को जोड़े हुए थे । लिच्छवि संघ के राजा सिद्धार्थ का इसी तरह का मैत्री सम्बन्ध सभी राज्यों से था ।

उनकी महारानी त्रिशला वैशाली के राजा चेटक की पुत्री थीं। कौशाम्बी के राजा शतानीक, हेरकच्छ के राजा दशरथ, रोरुक नगर के अधिपति उदयन, गंधार नरेश सात्यक, चम्पा नरेश दधिवाहन और राजगृह नगर के राजा श्रेणिक सिद्धार्थ के साढू भाई थे। इस तरह सिद्धार्थ का बहुत से राजवंशों के साथ मैत्री भाव पूर्ण, आत्मीयता पूरक सच्चा सम्बन्ध था। सिद्धार्थ नाथ-वंश के श्रेष्ठ क्षत्रिय थे, उन्होंने अपनी शासन प्रणाली में बहुत कुछ सुधार किये थे। उनकी शासन प्रणाली में बहुमत की मुख्यता थी। इस तरह पार्श्ववर्त्ती राज्यों से निकट का सम्बन्ध, शासन प्रणाली में बहुमत की प्रधानता और सिद्धार्थ की शासन कला कुशलता आदि ऐसे कारण थे जिनसे उनके राज्य में सर्वत्र सुख-शान्ति-समृद्धि के गीत गातीं किशोर कृषक बालिकाओं को देखकर अन्य-देशीय-दर्शक शासकों के हृदय-पटल पर सिद्धार्थ की श्रद्धा मुद्रा अङ्कित हो जाती थी।

आर्थिक स्थिति

सुजला, सुफला, मलयज शीतला, सस्य-श्यामला भारत भूमि पर—लहलहाते खेतों पर अल्हड़ गीत गाती कृषक कुमारियों का कूर्दन खेलन ही बता देता था—"वहां न कोई दास है; न दासी, न मजदूर है न मजदूरिन।" खेती का मुख्य व्यवसाय, शिल्प का साम्राज्य तथा चीन, लङ्का, फारस जैसे देशों से व्यापार था। समृद्धि के कारण वापी-कूप, तड़ाग, स्नानागार एवं कलामय निकेतन जनसाधारण की भोग्य वस्तु थे। अन्याय-अत्याचार, चोरी जैसे पापाचार उस समय न थे। सादगी के

साम्राज्य में विलासता का वास न था, सरल स्वभावी श्रमिकों के जीवन में श्रालस्य का श्रावास न था ।

शैक्षिक स्थिति

शिक्षा सम्बन्धी स्थिति भी राजनैतिक स्थिति की तरह पूर्ण सन्तोष एवं गौरव पूर्ण थी । भले ही श्राज जैसे विश्व विद्यालय उस समय न थे फिर भी तात्कालिक भारत को शिक्षा क्षेत्र में विश्व गुरु श्रौर बिहार को उसका नेता बनने का सौभाग्य प्राप्त था। इसी परम्परा में एक समय वह था जब भगवान् महावीर के प्रथम गणधर गौतम स्वामी नालन्दा में सैकड़ों छात्रों को श्रौदार्य भाव से ज्ञान-दान देते थे । वे उन दिनों बिहार के प्रतिभा सम्पन्न विद्वानों के गुरु थे । उनके दार्शनिक बुद्धिबल का परिचय जैन शास्त्रों में स्पष्ट मिलता है । समाज स्वयं छात्रों की सम्पूर्ण व्यवस्था उत्साहपूर्वक करता था । शिक्षा गुरु श्रौर समाज में पूर्णतया सहयोग भावना व्याप्त थी । श्रौर इसी प्रभावक परम्परा के कारण गुप्तकाल में एक समय वह भी श्राया कि नालन्दा विश्व विद्यालय जैसी सुप्रसिद्ध संस्था स्थापित हुई जिसमें १५०० उपाध्याय विद्यादान देते थे । देश विदेश के श्रज्ञानातप तप्त विद्यार्थी इसी ज्ञान कल्पतरु की सुखद छाया में सरस्वती प्रदत्त विविध-विद्या-सुधा का पान कर श्रपने को संतृप्त समझ सुख शान्ति का श्रनुभव किया करते थे। इस प्रान्त में भगवान् महावीर श्रौर जैन धर्म की प्रभावपूर्ण पर्याप्त मान्यता थी ।

सामाजिक स्थिति

ईस्वी पूर्व छठी शती की भारतीय सामाजिक स्थिति विषम थी। समाज पर उन लोगों का आधिपत्य था जो रूढ़ि-जन्य क्रियाओं के कट्टर पक्षपाती थे। गणराज्य होते हुए भी समाज के किसी भी प्रकार के निर्णय में पण्डितों की राय अपेक्षित थी। पोथियों के अक्षरों पर समाज का विकास निर्भर था, अनुभव को कोई स्थान न था। नारी और शूद्रों का सामाजिक जीवन बड़ा कष्टप्रद था। नारी के अधिकार सीमित थे। वह वेद का पारायण न कर सकती थी। स्वार्थियों की इच्छाओं पर उन का सामाजिक अस्तित्व था। अन्धविश्वास सृजित धार्मिक भावनाओं ने समाज को पंगु बना दिया था।

यह देखा गया है कि मानव जाति की किसी भी प्रकार की उन्नति के लिये सामाजिक संगठन वाञ्छनीय है। समाज जितना दृढ़, स्थिर और निर्दोष होगा वह राष्ट्र उतना ही उन्नत होगा। समाज के उचित विकास पर ही सांस्कृतिक विकास अवलम्बित है। दूषित समाज से उन्नति की आशा व्यर्थ है। भगवान् महावीर के समय के समाज की दशा पर प्रकाश डालने वाले स्वतन्त्र ग्रन्थ भले ही न मिलते हों पर तत्कालीन साहित्य में पाये जाने वाले समाज में साम्राज्यवाद पोषक बिचारधारा पनपती जा रही थी। व्यक्ति स्वातन्त्र्य का सिद्धान्त नाममात्र को रह गया था। गुण पूजा का स्थान व्यक्ति पूजा ने ले लिया था।

सामाजिक परिस्थिति तथा व्यक्तियों की मन:स्थिति के

संघर्ष में विभिन्न ध्येय और वाद जन्मते हैं, पनपते है। सामाजिक स्थिति अगर बहुत ही जड़ या जटिल हो चुकी हो तो प्रशान्त मानव-मन अशान्त होने पर क्रान्ति के लिये तयार हो जाता है। क्रान्ति से अनेक आन्दोलनों की, संघर्षों की परम्परा प्रारम्भ हो जाती है। उस समय यही हुआ भी।

बौद्धिक जागरण से, धार्मिक क्रान्ति से कुछ जनता को उज्जवल भविष्य निर्माण का शुभावसर मिला, तो कुछ जनता ने उसे अपनी स्वार्थ-साधना का साधक भी बनाया। समाज की स्वतन्त्र स्थिति पर धार्मिक परतन्त्रता का भारी भार लाद कर चैतन्य समाज को मुर्दा बना दिया।

धार्मिक वातावरण से सम्बन्धित होने के कारण सामाजिक स्थिति जटिल हो चुकी थी, धार्मिक युग की छाप समाज पर पड़े बिना कैसे रह सकती थी? वैदिक एवं श्रमण संस्कृति के बीच धार्मिक मान्यताओं की खाई ने प्रशान्त और प्रभावपूर्ण संघर्ष के अपने दो किनारों से संस्कृति की लोल लहरियों को समय-समय पर एक दूसरे से टकराने वाला बना दिया। धार्मिक स्थिति अत्यन्त उलझ गई, साथ ही सामाजिक स्थिति को भी उलझा ले गई! स्त्रियों और शूद्रों को धर्माराधन के अधिकारों से भी बञ्चित कर दिया गया!! जातिभेद, वर्णभेद जटिल हो चले, अन्याय के अन्धकार में पड़ो समाज की आत्मा न्याय के प्रकाश के लिये चिल्ला उठी—"विषमता का नाश हो, समता का साम्राज्य हो।" परन्तु फिर दबा दिये गये!

धार्मिक स्थिति

श्रमण संस्कृति ने जहाँ जनता के प्रत्येक जीवन व्यवहार को सर्वतन्त्र स्वतन्त्र (स्वच्छन्द नहीं) रखा वहां वैदिक संस्कृति ने जनता के प्रत्येक जीवन व्यवहार को बाह्य विधि-विधानों से ऐसा जकड़ा कि वेदमंत्रों या ऋचाओं के गान के बिना सोना-उठना, खाना-पीना, नहाना-धोना भी दुष्कर हो गया ! कुशल इतने ही से न थी; धर्म के नाम पर क्रूर-कुटिल विधि-विधानों और अमर्यादित आड़म्बरों ने मानव जीवन के स्वर्ग को नरक से बदतर बना दिया था ! नर राक्षसों ने मूक पशु-पक्षी, और निर्बल नर-नारियों के अश्वमेध नरमेध यज्ञ रचाकर अपनी स्वर्गारोहण कल्पना को सक्रिय करना प्रारम्भ किया ! धर्म दूकानों में बिकने वाली वस्तु बन गया ! स्वर्ग के टिकिट बांटने वाला, अपने आपको सर्वोच्च कहने वाला, तथा कथित एक वर्णाभिमानी वर्ग रह गया। वह चाहे सदाचारी-असदाचारी, पण्डित-मूर्ख, विवेकी-अविवेकी, सुजन-दुर्जन कैसा भी हो कोई पूछने वाला नहीं, उन्हें सन्तुष्ट किया कि सर्वार्थ सिद्धि होने में देर नहीं लगती थी ! इस तरह ईश्वर और धर्म के नाम पर जनता की मानसिक, अध्यात्मिक एवं सामाजिक कल्याण कोकिला को वाह्य विधि-विधान और अमर्यादित आडम्बर शलाका निर्मित दासता के पिंजड़े में बन्द कर दिया गया !

धार्मिक क्रान्ति का युगारम्भ

बौद्धिक, नैतिक, सामाजिक एवं धार्मिक स्वतन्त्रता के लिए जहां उस परतन्त्र कोकिला ने फड़फड़ाना प्रारम्भ किया कि

धार्मिक क्रान्ति का युगारम्भ हुआ। परिस्थिति यहाँ तक विषम हुई कि तेईसवें तीर्थङ्कार भगवान् श्री पार्श्वनाथ के निर्वाण पश्चात्, आज से लगभग ढाई हजार वर्ष पूर्व अनेक मत मतान्तर प्रचलित हुए, लोग भोले प्राणियों को अपनी ओर, अपने धर्म की ओर आकर्षित करने का प्रयत्न करने लगे। स्वार्थी धर्माचार्य अपनी स्वार्थ-साधना के लिए धर्म के नाम पर निरपराध मूक प्राणियों को यज्ञ बलिवेदियों में जीवित जला देना स्वर्ग मोक्ष का सीधा मार्ग बतलाने लगे। धू धू कर जलने वाली यज्ञ बलिवेदियों की ज्वलन्त ज्वाला से एक करुण चीत्कार सुनाई पड़ने लगा।

लोगों को प्रतीत हुआ जैसे प्रकृति आश्वासन दे रही हो–

"दुखातुर प्राणियो! धैर्य रखो। सृष्टि का क्रम जनता की आवश्यकतानुसार परिवर्तित हुआ करता है। ग्रीष्म की संतप्त लोल लपटों से व्याकुल मानवों को शान्ति देने के लिये सुन्दर श्यामल बादल घिर आते हैं, वर्षा ऋतु आती है तो वर्षा से ऊबने वालों को बाल दिनकर की दिव्य किरणों से अन्तस्तल को अनुरञ्जित करती हुई और चमकते चारु-चन्द्र की शीतल सुखद किरणों से अमृत बरसाती हुई आनन्ददायिनी शरद् ऋतु भी आती है। जब उससे भी लोग सन्तुष्ट नहीं होते तब शरद् के बाद हेमन्त, हेमन्त के बाद शिशिर और शिशिर के बाद ऋतुराज वसन्त आकर लोगों को आनन्दित करते हैं।

"संसार सागर जब कभी भी हिंसा और झूठ की लहरों में डुबोकर दुनिया को अपने अन्तस्तल में रखना चाहता है, अन्याय

अत्याचार की आंधी जब विश्वशान्ति के झण्डे को उखाड़ कर फेंक देना चाहती है, शोषण, ताड़न और उत्पीड़न की काली घटाएं जब विश्व को तमाच्छन्न कर ढक देना चाहती हैं, तब कोई महा मानव दुनिया के रङ्गमञ्च पर आकर अहिंसा सत्य की प्रखर रवि-रश्मियों से उन लहरों को सोख लेता है, न्याय नीति के पर्वत-पहाड़ों की दीवार से उस भयङ्कर प्रलयङ्कर आंधी को रोक देता है और पोषक सन्तोषक उदारवृत्ति की दिव्य-द्युति से विश्व को सत्य का प्रकाश देकर सुख शान्ति का सन्देश सुनाता है। विकलता और विप्लव शांत हो जाते हैं।

"दुष्टों का दमन करने के लिये महात्माओं का जन्म अनादि सिद्ध है।"

भगवान् महावीर का आदर्श जीवन

जन्मोत्सव

वाणी सत्य हुई, मनोकामना पूर्ण हुई। ऊषा की सुनहली किरणों के साथ विश्व जननी माँ त्रिशला प्राची के गर्भ से दिव्यद्युति भगवान् महावीर दिवाकर उदित हुए। तात्कालिक भारत के महत्वपूर्ण गणतन्त्र वैशाली के उपनगर कुण्ड पुर में राजा सिद्धार्थ की शुभ्र सुधा धवलित सौध पंक्ति के साथ भारतीय भव्य वसुन्धरा जगमगा उठी। मङ्गल दुन्दुभि की मधुर ध्वनि, तोरण द्वारों की सुन्दरता, दीपकों की दिवाली, सर्वत्र आनन्द की लहरें लहरा रही थीं। अर्धोन्मेषित फूल कलियों पर भँवरों का गुन-गुन गान, धीरे-धीरे बहने वाली पहाड़ी नदियों

का तल्लीनतामय कल-कल निनाद, वसन्त की सुरभित समीर, और कोकिल की कूहू-कूहू ध्वनि जन्मोत्सव में अपना अनुपम हर्षोल्लास सा व्यक्त कर रही थी।

राजा सिद्धार्थ का राज्य उस समय वाणिज्य-व्यवसाय के के द्वारा अत्यन्त उन्नत था। सिद्धार्थ की शूरवीरता में उनकी गम्भीरता 'सोने में सुगन्धि' थी। उनकी दया को देखकर तो लोग उन्हें दया का चलता-फिरता समुद्र कहा करते थे।

वैशाली गणतन्त्र था, उसकी शक्ति जनता थी। उसके द्वारा उसका शासन होता था अतः वैशाली गणतन्त्र एवं उसकी प्रजा की शक्ति सब तरह सुदृढ़ और समृद्ध थी। ईस्वी सन् के ५९९ वर्ष पूर्व चैत्र शुक्ला त्रयोदशी (१३) को पावन वेला में इन्हीं सिद्धार्थ की प्रियपत्नी त्रिशला के गर्भ से भगवान् महावीर स्वामी का जन्म हुआ।

वीर बालक

राज परिवार के बीच दोयज चन्द्र के समान बढ़ते हुए कुमार महावीर अपनी षोडश कलाओं से संसार को चमत्कृत करते हुए विद्याभ्यास में निपुण और अनेक कलाओं के पार-गामी हो गये। वीरता और साहस के अनन्य आश्रय महावीर एक बार अपने साथियों के साथ पुष्पोद्यान में जिस वृक्ष पर क्रीड़ा कर रहे थे उसी पर एक अजगर आ लिपटा। फुफकारते हुए अजगर को देखकर साथी नौ दो ग्यारह हो गये परन्तु वीर बालक महावीर नागराज के साथ क्रीड़ा करने लगे। इसी तरह नगर में उपद्रव मचाने वाले एक मदोन्मत्त हाथी को पकड़

कर उन्होंने उसका मान-मर्दन कर ही छोड़ा। ऐसी ही और भी अनेक घटनाएं इनके सम्बन्ध में पाई जाती हैं जिनसे इनका नाम 'महावीर' पड़ा।

आदर्श गृह त्यागी

बाल जीवन के बाद युवाजीवन प्रारम्भ हुआ। सुन्दरता की अधखिली कली नवयौवन की मादकता के सुरभित समीर को पाकर विकसित हो उठी। जैसे-जैसे युवावस्था बढ़ती गई, छाया की तरह सहचारी व्यवहार-कुशलता, वीरता, सौम्यता, विचार-गम्भीरता, सुशीलता एवं दया-दाक्षिण्यादि गुण भी उसी क्रम से बढ़ते गये। वे जब किसी दीन दुखी को देखते उसका दुख दूर किये बिना उन्हें चैन नहीं पड़ता था। इनके दयामयी पुण्य प्रेम का प्रवाह विश्व के प्राणियों की शान्ति के लिये प्रवाहित होता था। जहां देखो कुमार महावीर की कीर्ति गाथाएं सुनाई पड़ती थीं परन्तु इसमे उन्हें अपने गौरव का गर्व कभी नहीं हुआ।

शरीर में यौवन का साम्राज्य था, किन्तु उनके हृदय में लालसा या विषयवासना की किञ्चित भी कालिमा नहीं लगने पाई। युवावस्था को पाकर भी भौतिक भोगों की, मायावी दुनिया के बन्धनों की शृङ्खला उन्हें कभी बांध नहीं पाई!! गम्भीर चिन्तन में सदा सजग रह सोचा करते—

"मैं दुखों से कैसे बचा रह सकता हूं? अविनाशी, चिर-स्थायी सुख कैसे प्राप्त हो सकेंगे? त्रस्त संसार को कैसे सन्मार्ग

दिखा सकूंगा ? वह कौन-सा शुभ दिन होगा जब संसार सुख शान्ति के गीत गाता दिखाई देगा ?"

"जिस विषय-वासना को लोग सुखकारी समझते हैं वह मृग मरीचिका है, जिस लक्ष्मी को लोग सुख-साधक स्थायी सामग्री समझते हैं वह बिजली की तरह अस्थिर है। एक क्षण में नाश हो जाने वाली है ! कितने भोले हैं संसार के मानव ? सच्चे सुख का मार्ग भूल चुके हैं, अधर्म को ही धर्म समझ बैठे हैं। सामाजिक क्षेत्र भी विषमता के विष से विषाक्त हो चुका है , जो कभी गृह देवियां थीं, समाज में आज उनका कोई अस्तित्व नहीं है। मानव मानव को दास बनाये हुए है, कञ्चन और कामिनी जैसी तुच्छ वस्तुओं के लिये अमूल्य जीवन रत्न को दाव पर लगाये हुए हैं।"

"मायावी दुनियां में मैं अब एक पल भी नहीं ठहरना चाहता। कानन के किसी कोने में शान्त चित्त होकर ज्ञान ज्योति का अन्वेषण करूंगा, जिसके प्रगट होने पर सुख शान्ति का सुलभ पथ प्रदर्शन करूंगा।

"अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए मुझे साँसारिक बन्धनों को तोड़ना होगा, और शरीर आत्मा से मोह माया का नाता तोड़कर शुभ कार्य का श्री गणेश करना होगा।"

जन्म-जात महापुरुष की विशाल भावना ने माता पिता को समझा दिया—"तुम्हारा पुत्र केवल तुम्हारा होकर नहीं रहेगा, वह तो संसार के लिए पैदा हुआ है, संसार का होकर रहेगा।"

पुत्र की विश्वोपकारी पवित्र भावना ने पिता का व्यामोह दूर कर दिया, सिद्धार्थ गद्गद् हो कह उठे—"धन्य है आयु-

ष्मन् ! आखिर जन्मदाता उदयाचल की अपेक्षा दिव्य-द्युति से संसार को चमत्कृत करने वाला वह सूर्य ही प्रशंसा पात्र होता है। ज्ञातृ-वंश को प्रकाशित करने वाले आप मेरे भी मान्य हैं।"

पिताजी पुत्र व्यामोह से मुक्त हुए कि माता मोह से व्याकुल हो उठी—"मां की ममता को देखकर कुमार ने कहा मेरी अपेक्षा मातृस्नेह उस विश्व पर अधिक होना चाहिए जो आपको विश्व जननी के नाम से पूजता है।"

पुत्र की प्रभावक वाणी ने माँ की ममता पर विजय प्राप्त की। त्रिशला कह उठी—"यदि आपका हित विश्व-हित में ही है तो मैं नहीं चाहती कि विश्व-हित के साथ मैं आपके हित की भी वाधक बनूं। आपके स्वरूप को, आपके व्यक्तित्व को अब मैं पहिचान सकी। आप मेरे पुत्र ही नहीं, आराध्य देव भी हैं। आप जैसे पुत्ररत्न से गौरव है, जाओ ! प्रसन्नता के साथ जाओ !! संसार को कल्याण पथ प्रदर्शन करो, मूकों को अभय दान दो।"

माता पिता के पाद-पद्मों में युवराज झुक गये, वैराग्य की प्रवल भावना में आनन्द विभोर हो उठे। मनो विकार निरोध के लिए, ज्ञान ज्योति के अन्वेषण के लिए, असिधारा व्रत और दुर्धर तपश्चरण के लिए उद्यत हो गये।

तरुण तपस्वी

उस समय महावीर की अवस्था लगभग ३० वर्ष की थी। उनके घोर तपश्चरण का उद्देश्य कोई ऐहिक या पारलौकिक सन्मान प्राप्ति न था, कोई राज्य-विजय, दिग्विजय या विश्व

विजय भी न था; केवल सत्य सन्मान एवं आत्म विजय ही था। उनका विश्वास था जब तक काम-क्रोधादि, राग-द्वेषादि सारे विकार दूर नहीं हो जाते, सम्पूर्ण रूप से आत्म-तत्त्व की उपलब्धि नहीं हो जाती तबतक न वे 'स्व' को प्राप्त कर सकते हैं और न 'पर' को उपदेश देने के समर्थ अधिकारी ही हो सकते हैं। यही सोचकर उन्होंने दुर्धर दुस्सह तपश्चर्या भी करना प्रारम्भ की।

आकाश से फूल बरसने लगे। बालों को घास फूस की तरह निर्ममता से उखाड़ फेंका, वाह्याभ्यन्तर परिग्रह को त्याग कर तरुण तपस्वी बन गये। गिरि-गह्वरों में, निर्जन बन प्रान्तों में एकाकी पर्यटन करना, दु:सह उपसर्गों के उपस्थित होने पर निर्विकार, निश्चल, अचल, अडिग, प्रस्तर मूर्तिवत् खड़े रह सहन करना, अपरिचित जनता द्वारा किये गये भीषण अपमानों को विष घूंटवत् पी जाना न केवल महावीर की उग्रतपस्या, निर्भय वीरता, एवं भौतिक क्षत्रियत्व का द्योतक था अपितु उनके अध्यात्मिक क्षात्र धर्म का परिचायक प्रबल प्रमाण भी था।

ग्रीष्म का आतप, मूसलाधार बारिस, शिशिर का झंझावात और मच्छर बिच्छुओं का उपदंश सहनकर प्रकृति पर विजय प्राप्त की। कहना होगा कि महावीर का यह जीवन मानवीय विकास के लिये, आत्मतत्त्व के सत्य शोध के लिए, एक प्रयोगशाला थी। ध्यान, अध्ययन में तल्लीन रहे। मौन रह कर बारह वर्ष तक घोर तपश्चरण के बाद ४२ वर्ष की

अवस्था में अनन्त, सर्वोत्तम, अबाधित, अविच्छिन्न, देदीप्य दिव्य केवलज्ञान ज्योति प्राप्त की। काम-क्रोध, लोभ-मोह, भय-अज्ञान जैसे सांसारिक विकारों को 'स्वत्व' के साथ मिले हुए 'परत्व' को हटा कर सचमुच आत्म-विजय प्राप्त की ! ज्ञान ज्योति से आत्मा जगमगा उठी, संसार के चराचर समस्त पदार्थ हस्तामलकवत् एक साथ दिखने लगे।

दिव्योपदेशक

जगह जगह विहार कर उन्होंने दिव्योपदेश दिये। समवशरण-धर्म सभा में उन्होंने स्पष्ट कह दिया—

"व्यक्ति चाहे किसी भी देश, समाज, वर्ण, या जाति का क्यों न हो सभी को मोक्ष जाने का जन्म सिद्ध अधिकार है। आध्यात्मिक क्षेत्र में छोटे बड़े का कोई भेद भाव नहीं। मेरा विरोध किसी व्यक्ति से नहीं व्यक्ति की उन दूषित भावनाओं से है, जिन्होंने परम्परया शताब्दियों से मानवता को पशुता में परिणत कर दिया है। मैं चाहता हूँ समाज संसार उच्चतम दशा पर, उत्थान की चरम सीमापर पहुँचे। परन्तु वहां तक पहुंचने वालों से मैं कहूँगा वि वहां तक पहुँचने के लिए—

१–अपने विरुद्ध पड़ने वाले (हृदय विदारक) कोई भी असद् व्यवहार दूसरों के प्रति मत करो।

२–वही वचन बोलो जो हित, मित, प्रिय एवं सत्य हो।

३—पर वस्तु को मिट्टी के ढेले की तरह नगण्य समझते हुए उसे जिस किसी तरह पाने की इच्छा मत करो।

४—प्रतिक्षण प्रत्येक स्त्री को अन्तरङ्ग से माँ बहिन और बेटी की दृष्टि से देखो।

५—संसार की सब वस्तुओं से ममभाव तोड़ उतना ही परिग्रह रखो जितना तुम्हें आवश्यक है।

"आत्म विश्वास, आत्मज्ञान, और निश्छल प्रवृत्ति से ही मोक्ष प्राप्त हो सकता है। इन तीन की प्राप्ति न होने से ही जीव अनादि काल से संसार की चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करता चला आ रहा है। संसार का प्रत्येक प्राणी परमात्मा बन सकता है। वीतरागता आत्मा का स्वभाव है। वीतरागता का दूसरा नाम अहिंसा है। सत्य, अचौर्य्य आदि सभी वीतरागता के परिकर हैं। काम, क्रोध, लोभ, मोह भयङ्कर शत्रु हैं, इनसे सदा बचे रहना चाहिये। यदि बचने का प्रयत्न न किया गया तो पूर्व दुःखों की परम्परा का चक्कर कभी मिटाये न मिट सकेगा। इस दुःख परम्परा को मिटाने के लिये जब तक पराश्रित रहा जायगा, कोई लाभ न होगा। उसे दूर करने के लिये तो स्वयं अपने आप को ही प्रयत्न शील होना पड़ेगा। दुःख के जो कारण आत्मा ने सञ्चित कर रखे हैं उन्हें चूर चूरकर चकनाचूर कर देना पड़ेगा। साबुन से साफ कर देने के बाद जिस तरह मलिन वस्त्र मलिनता छोड़ अपने स्वच्छ रूप को प्राप्त हो जाता है उसी तरह दुःख के कारण दूर होने पर आत्मा का अनन्त सुख स्वरूप गुण प्रगट हो जाता है। कर्म मल स्वरूप 'पर'-परणति हटकर ज्ञान दर्शनात्मक 'स्व' स्वरूप प्रगट हो जाता है। इस 'स्व' स्वरूप को प्राप्त कर लेना ही परमात्मा बनना है।

जो अपनी आत्मा का सुधार कर लेता है उसका सर्वोच्च विकास हो जाता है, उसकी सर्वतोमुखी प्रतिभा उसे सब तरह की दासता से मुक्त कर देती है। उसके प्रभावक व्यक्तित्व और अनुकरणीय शुभाचरण से उसकी आत्मा दूसरों को जीवित आदर्श और हितैषी उपदेशक बन जाती है। परन्तु यह ध्यान रहे कि ऐसे आत्म विकास के आधार आत्म निग्रह, इन्द्रिय विजय, कषायों का दमन, अचेतन की जड़ता से चेतन की मुक्ति, वांछा, गृध्नता का त्याग, असन्तोष का परिहार, आकुलता का अभाव, परिग्रह से विमुखता, एवं सत्त्वेषु मैत्री की भावना आदि जैसे विशुद्ध कार्य ही हैं। यदि इन कार्यों को मन वचन काय से, शुद्धाचरण की श्रद्धा बुद्धि से किया जाय, तो इसमें सन्देह नहीं कि मानवता का विश्वमैत्री वृक्ष नवांकुरित हो उठेगा। पर यह स्मरण रहे कि इस वृक्ष को अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अब्रह्म और अपरिग्रह व्रत के जल से सदा सींचना पड़ेगा तभी उसमें दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्रधान शाखाओं के साथ उत्तम क्षमादि दश धर्म की उप-शाखाएं निकल सकेंगी, तभी उससे उदारता के पल्लव, सद्भावना के फूल और सद्धर्म के मधुर फल जनता को मिल सकेंगे और तभी उसकी शीतल छाया में जनता अपने संसारातप को मेट कर सुख शान्ति का अनुभव करने के लिये सबको समानता से विना किसी जाति, समाज़, ऊँच-नीच, वर्ण भेद के मोक्ष का अधिकारी-जन्म सिद्ध अधिकारी समझ सकेगी।

"धर्म और ईश्वर के नाम पर अपनी स्वार्थ साधनाभिलाषी जो व्यक्ति अपने को सबसे ऊँचा और दूसरों को नीचा समझते

हैं उन्हें समझना चाहिये कि वर्ण व्यवस्था के आधार पर बनने वाली जाति व्यवस्था का मूल आधार आजीविका है, कर्म है, न कि किसी जाति विशेष में जन्म। परन्तु वह कर्म करने से मनुष्य सदा को ऊँचा-नीचा नहीं हो जाता। जब तक उच्च कार्य में रत है ऊँचा है, नीच कार्य में रत है तभी तक नीचा है। इसके बाद वह जैसा सबकी आत्मा है, समान है।

"मनुष्य कर्म से ब्राह्मण है, कर्म से क्षत्रिय है, कर्म से वैश्य और कर्म से ही शूद्र है।

"स्त्रियों को भोग-विलास मात्र की वस्तु मत समझो। उनका अपमान या तिरस्कार मत करो। जिन्हें तुम क्षुद्र कह कर ठुकराते हो उन्हीं की परम्परा में पूज्य पुरुषों की जन्म-दात्रियाँ जन्मी हैं, तुम्हारी जन्मदात्री भी जन्मी है। स्त्री मात्र यदि दोषों की खान है तो तुम्हारी माता भी इसी दोष में आती है। कारण के अनुसार कार्य होता है, जैसी मिट्टी होती है वैसा घड़ा होता है, यदि तुम्हारी माता दोषी है तो तुम निर्दोष होने का दावा नहीं कर सकते। स्त्री राग का कारण नहीं, दोष का कारण नहीं, इनका कारण तो उनमें राग और दोष बुद्धि ही है। अपनी स्त्री के अतिरिक्त जिन दूसरी स्त्रियों को भी निजी स्त्री की भावना से, विषय-वासना की दूषित दृष्टि से देखते हो अगर उन्हें माँ बहिन की भावना से, पवित्र स्नेह की दृष्टि से देखो तो यह विद्रोही भावनाएं ही न हों। तुम्हारी दृष्टि में उनके लिये भी वही पूज्य भावना होगी जो अपनी मां बहिन के लिये होती है।

"धर्म के सम्बन्ध में तो स्पष्ट ही है कि वह किसी की पैतृक सम्पत्ति या दुकानदारी की वस्तु नहीं, जिसका मन चाहा भाव किया जा सके, ग्राहकों के मुंह ताक कर देने न देने की मनमानी की जा सके। धर्म के नाम पर याज्ञिक महा हिंसा को अहिंसा बताना अपने स्वार्थ की घृणित साधना मात्र है। धर्म के लिये ऐसे यज्ञों की आवश्यकता नहीं है जिनमें मूक पशु-पक्षी और निरपराध निर्बल नर-नारी झोंक दिये जाते हैं। आवश्यकता है ऐसे यज्ञों की जिनमें जीवात्मा ही अग्निकुण्ड हो, तपस्या अग्नि हो, मन-वचन-काय की प्रवृत्ति कुड़छी हो और समिध ईंधन की तरह जिनमें पाप कर्मों को धू-धू कर जलाकर खाक कर दिया जाय।"

निर्वाण

इस तरह तीस वर्ष तक जगह जगह जाकर दिव्योपदेश देते हुए अहिंसा की वह मन्दाकिनी प्रवाहित की जिससे पापियों के अन्तरंग से कषाय कालिमा धुलकर मैत्री-भावना जागृत हुई। बहत्तरवें वर्ष का जब एक माह शेष रह गया तब विहार प्रांतीय पावापुर की पावन भूमि से ईस्वी पूर्व ५२७ कार्तिक कृष्णा चतुर्दशी की रात्रि और अमावस की प्रभात वेला में मोक्ष प्राप्त किया।

यह है भगवान् महावीर का संक्षिप्त पवित्र आदर्श जीवन वृत्त जिससे प्रभावित होकर न केवल सारे भारतवर्ष में; देश-विदेश में चैत्र शुक्ला त्रयोदशी के दिन उनका जन्मोत्सव श्री महावीर जयन्ती के नाम से मनाया जाता है।

प्रभावक व्यक्तित्व

महावीर मानव संस्कृति के प्रकाश स्तम्भ थे, उन्नायक थे, उत्प्रेरक थे, सर्वांगीण जागतिक विकास उनका ध्येय था। प्राणीमात्र के प्रति उनके हृदय में सहानुभूति थी। उनका व्यक्तित्व अलौकिक था, चरित्र पूज्य और निष्कलंक था। महावीर का आदर्श जीवन उनके व्यक्तित्व का पूर्ण परिचायक है। व्यावहारिक दृष्टि से या जैन तीर्थ सञ्चालक के नाते उन्हें भले ही जैन कहा जाय यह उनकी विश्वोद्धारक भावना एवं कार्य इस बात के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं कि वे जाति, समाज, देश, काल और साम्प्रदायिकता जैसी सीमाओं से बहुत उठे हुए महापुरुष थे। वे महापुरुष थे अतः उन्हें यह बन्धन कैसे बांध सकते थे? सम्प्रदाय विशेष कभी सत्य को ढकने वाले बन सकते हैं परन्तु महापुरुष का जीवन सत्य के शोधन और सत्य के रहस्योद्घाटन में ही लगा रहता है।

महावीर ने अहिंसा, सत्य और तप को देवत्व से बड़ा माना। यही कारण है श्रमण-संस्कृति के आलोक स्तम्भ, पांडित्य-पारखी, मौन-सेवाव्रती, युग-व्यवस्थापक महावीर विश्व को सत्यालोक देने के लिये समन्वय एवं शान्ति के अग्रदूत के रूप में विश्व के सामने आये। उनके सत्यालोक दान की विशेषता थी तो वह यह कि जब उस समय और लोग ज्ञान को प्रधानता दे रहे थे तब महावीर ने उस सत्यालोक के साथ श्रद्धा और चारित्र को रखकर दर्शन-ज्ञान-चारित्र के समन्वय को

प्रधानता दी। उन्होंने कहा—"श्रद्धा के भाजन (दीपक) में स्नेह (तैल) क्रिया—चारित्र पूरित होनेपर ही उसमें अलौकिक ज्ञान (ज्योति) शिखा प्रज्वलित की जा सकती है। रोगी को औषधि तभी लाभ पहुंचा सकती है जब दवा के रोग-नाशक गुण में उसकी श्रद्धा हो, सेवन विधि का ज्ञान हो, और ठीक समय पर सेवन क्रिया का प्रयोग हो।" इस तरह वे न केवल उच्चतम विचारों के स्रष्टा ही थे, जो कहते थे उसे जीवन में स्वयं कर भी दिखाते थे। त्यागपूर्ण संयमी तपस्वी जीवन का आदर्श उन्होंने स्वयं वैसा बनकर बताया इसीलिये उन्होंने कर भी दिखाया कि सेवा का व्रत मौन होता है। अहिंसा आचरण की वस्तु होती है; कहने की नहीं, उनके इन उदार सिद्धान्तों से दुनिया का ऐसा काया पलट हुआ कि अधर्म धर्म का आह्वान करने लगा, संघर्ष शान्ति के लिये विकल हो उठा, भौतिकता अध्यात्मिकता के लिये पुकार उठी। चतुर्दिक् से आवाज आने लगी—

"अहिंसा प्रेम का विस्तार हो, सुख शान्ति का समन्वय हो"

सुयोग्य सेवक बनने के लिये, सफल शिक्षक बनने के लिए पहिले उन्होंने आत्म-विकास को पूर्ण किया। तभी वे सच्चे सेवक बने, सच्चे शिक्षक बने। स्वयं अधूरा, अपूर्ण और अविकसित व्यक्ति न सेवा कर सकता है, न शिक्षा दे सकता है। महावीर का व्यक्तित्व इस बात का द्योतक है कि उन जैसा सर्वतोमुखी प्रतिभाशाली, पूर्ण विकसित महापुरुष यदि इस कार्य को करने के लिये आज अवतरित हो तो वे शान्ति साधक साधन जो कुण्ठित, निस्तेज, और निष्प्रभावक सिद्ध हो चुके हैं

एकबार फिर सतेज और प्रभावक हो सकते हैं। युद्ध से ऊबे हुए, शान्ति के लिये लालायित मानव अपने मार्ग को अच्छी तरह समझ सकते हैं कि संसार को त्रस्त ध्वस्त करने में, धन-जन-धर्म के विनाश में वीरता नहीं, वीरता है तो राग-द्वेष-कषाय और इन्द्रिय विजय में। और इसके लिये बाह्य क्रियाओं द्वारा बाह्यशुद्धि की अपेक्षा आन्तरिक क्रियाओं द्वारा आन्तरिक शुद्धि विशेष लाभदायक, प्रमुख तथा अपेक्षित है।

वस्तुतः महावीर ने अपने जीवन के साध्य, साधन और सिद्धान्त बहुत ही आदर्श बनाये थे। उनका साध्य था विश्वप्रेम साधन थी सच्ची तपस्या एवं सफल साधना, और सिद्धान्त था सद्विवेक। यही कारण है वे सफल हुए, सफलता का मार्ग बता सके, उनके विचारों के आदर्श, सिद्धान्तों के प्रचार ने भारतीय सीमा को पार कर विदेश में भी अपनी प्रभुता प्रख्यापित की। वेबिलोन के सम्राट् आर्यचन्द्र नेबूजिन्दार ने ई० पू० छटवीं शताब्दी में भगवान् महावीर से दीक्षा ग्रहण की। भारत के राजा महाराजे, नालन्दा के इन्द्रभूति, अग्निभूति, और वायुभूति जैसे प्रकाण्ड ब्राह्मण विद्वान् महावीर के पास जैनधर्म में दीक्षित हुए। जो अभिमानी पण्डित बनकर आये वे शिष्य बनकर गये।

तीस वर्ष तक उपदेश देने का प्रभाव पड़ा कि हिंसा बन्द हो गई, स्त्रियों और शूद्रों को धार्मिक व सामाजिक स्वतन्त्रता प्राप्त होगई। तात्कालिक प्राभाविक सुधार की समुज्वल ज्योति का अनुमान हम इस सहस्त्र वर्षों के धूमिल वातावरण में भी कर सकते हैं, और उस धूमिल प्रकाश पुञ्ज के सहारे वीतराग,

सर्वज्ञ, हितोपदेष्टा भगवान महावीर के दिव्य दर्शन कर उनकी ध्यानस्थ शान्तमूर्ति को अपने हृदय कमलासन पर विराजमान कर सकते हैं।

महावीर के समकालीन धार्मिक नेता

भगवान् महावीर के उज्वल व्यक्तित्व को समझने के लिए सम सामयिक नेताओं का अध्ययन अनिवार्य है।

धार्मिक क्रान्ति के युग से प्रभावित जनता एक महापुरुष के दर्शन को लालायित हो उठी। उस समय चलने वाली धर्म की मनगढ़न्त व्याख्याओं को समाप्त कर धर्म और आचार विचार की नई व्याख्या देखने को आकुल हो उठी। अवसर उपयुक्त था, भविष्यवक्ताओं ने भविष्य वाणी की—"एक महापुरुष या तीर्थङ्कर शीघ्र अवतरित होंगे।" फिर क्या था भगवान् महावीर और महात्मा बुद्ध के अवतार के बाद भी अनेक अवसरवादियों ने इस अवसर से लाभ उठाने की इच्छा से अपने आपको नेता घोषित करना प्रारम्भ किया। फलतः महावीर के समय अनेक नेता और उत्पन्न हो गये। परन्तु महावीर के अतिरिक्त बुद्ध ही इस प्रकार के धार्मिक नेताओं में प्रभावशाली थे। कारण कि तात्कालिक सामाजिक स्थिति तो सम्भ्रान्त थी ही, साथ ही बुद्ध भी महावीर की ही तरह गणतन्त्र के राजा के पुत्र थे। सन्मार्ग के अन्वेषण के लिए वे भी राज-पाट, भोग-विलास, छोड़कर साधु हुए थे। वे अपने सिद्धान्तों को इतना सरल बनाये रखते थे कि लोक रुचि के प्रतिकूल न पड़ें।

इस सब का जनता पर विशेष प्रभाव पड़ा परन्तु महावीर के बाद जो सफलता उन्हें प्राप्त हुई वह उनके समय में नहीं हुई। स्पष्ट है कि महावीर के प्रभावक व्यक्तित्व की छाप उस समय सबके हृदय पर अङ्कित हो चुकी थी। बुद्ध के अतिरिक्त मक्खलि गोशाल, संजय-वेल-द्विपुत्त और केशिकंवल आदि ६ धार्मिक नेता और भी हुए, इनके अनुयापियों की संख्या भी महावीर के अनुयायियों से अधिक थी।

बुद्ध सहित सभी धार्मिक नेता महावीर के सिद्धान्तों से अत्यन्त प्रभावित हुए थे। कारण यह था कि बुद्ध देव तेईसवें तीर्थङ्कर श्री पार्श्वनाथ के शासन के पिहिताश्रव मुनि के शिष्य रह चुके थे और शेष कुछ महावीर के शिष्य रह चुके थे। परन्तु महत्वाकांक्षा की प्रबल प्रेरणा से संघ से पृथक हो अपना निराला पन्थ चलाने को प्रयत्नशील हुए थे। इसलिए उनके सिद्धान्तों पर महावीर के सिद्धान्तों का प्रभाव रहा। बुद्ध महावीर को अपना प्रबल प्रतिद्वंद्वी मानते थे। शेष जो थे वे भी प्रतिस्पर्धा करने में अछूते न थे; परन्तु महावीर के लोकोत्तर व्यक्तित्व से न कोई टक्कर ले सका, न कोई उनके प्रति जनता के हृदय पटल पर अङ्कित श्रद्धाबुद्धि की मुद्रा को मिटा सका।

प्रभु महावीर जिस सदी में उत्पन्न हुए उसी सदी में विदेशों में भी दो धार्मिक नेताओं का आविर्भाव हुआ, जिनके द्वारा प्रवर्तित दार्शनिक विचारधाराओं के अन्तः परीक्षण से विदित होता है कि उनकी विचारशैली भी महावीर द्वारा प्रचारित

शैली से प्रभावित थी। मेरा अभिप्राय यहां चीनी महात्मा कन्फ्यूसियस और यूनान के सामोस नगर में जन्म लेने वाले (ई० पूर्व ५८०) पीथी गोरस से है। इनके जन्म समय भगवान् महावीर की अवस्था १६ वर्ष की थी। पीथीगोरस भारत आये थे। बहुत सम्भव है कि भगवान् की वाणी का भी रसास्वादन करने का सौभाग्य उन्होंने भी प्राप्त किया हो।

इस तरह भगवान् महावीर के समय में देश में १० और विदेश में २ कुल १२ धार्मिक नेता और हुए। जिनमें महावीर का व्यक्तित्व खराद पर चढ़े हीरे की भाँति समुज्वल रहा, आकाश गंगा के तारागणों में चन्द्र की भाँति दैदीप्यमान रहा। कारण कि जो सद्विचार मानव समाज की परम्परा के आधार कहे जाते हैं, समाज देश एवं धर्म की स्थायी सम्पत्ति माने जाते हैं उनके गम्भीर विचार और प्रचार के लिये महावीर ने अपने जीवन को प्रयोगशाला बना दिया था। ऐसे बिचारों का प्रचार जैसा महावीर कर सके वैसे बिचार न कोई सोच सका और न प्रचार के लिए वैसा सक्रिय प्रयत्न भी कर सका। वे सद्विचार थे महावीर के यह पांच सिद्धान्त जो अशान्त दुनियां को आज भी विश्वशान्ति के लिए प्रमुख उपाय हैं—

(१) अहिंसा-वाद

(२) अनेकान्त और स्याद्वाद

(३) कर्मवाद

(४) अपरिग्रहवाद

(५) अध्यात्मवाद

में,राष्ट्र, राष्ट्र के आक्रमण प्रत्याक्रमण में जो हिंसा होती है वह **विरोधी हिंसा** है। इसमें प्रथम संकल्पी हिंसा का त्याग तो प्रत्येक गृहस्थ के लिये आवश्यक है। परन्तु शेष तीन हिंसाओं का त्याग यदि गृहस्थ के लिये सदा को अनिवार्य कर दिया जाय तो दुनिया के पेट पालक तमाम उद्योग-धन्धे बन्द हो जावेंगे। राजनैतिक, सामाजिक और धार्मिक क्षेत्र में कोई व्यवस्था न रह जायगी। उद्योग-धन्धे न करेगा तो गृहस्थ क्या खायेगा? क्या साधुओं को खिलायेगा। आरम्भ न करेगा तो सब को उपवास करना पड़ेगा। अत्याचारियों, आक्रमणकारियों का विरोध न करेगा तो कायरता का कलंक लगे बिना न रहेगा। सत्य तो यह है कि शक्ति होते हुए भी किसी अन्याय के प्रतिकार को कटिबद्ध न होना, स्वार्थ-साधना के लिये अन्याय की बलिवेदी पर अपनी और दूसरों की शुभ भावनाओं का बलिदान देखना अहिंसा नहीं स्पष्ट हिंसा है। ऐसा करनेवाला शांत अहिसक नहीं, विद्रोही हिंसक है।

जिसे दूसरे की पीड़ा अपनी पीड़ा प्रतीत नहीं हुई वह अहिंसा के मर्म को समझने में कभी सफल नहीं हो सकता। "रागद्वेषाज्ञानादि शत्रून् जयतीति जिनः, तेषामनुयायिनः जैनाः" राग, द्वेष, अज्ञान आदि शत्रु-सेना को जीतने वाले 'जिन' कहे जाते हैं और उनके अनुयायी 'जैन' कहलाते हैं। यह 'जैन' शब्द ही जब व्यक्ति की सर्वतन्त्र स्वतन्त्रता का समर्थक है—दासता का विरोधक है तब कहा जा सकता है कि मानवीय विकास के लिये, गृहस्थ धर्म परिपालन के लिये, सामाजिक स्थिति को

दासता से अछूता और अक्षुण्ण बनाये रखने के लिये गृहस्थ को उद्योगी, आरम्भी और विरोधी हिंसा का त्याग अनिवार्य नहीं किया गया तो उन्हें करने की कोई प्रेरणा भी नहीं दी गई।

विधि-निषेध की दोनों कोटियों का तात्पर्य यह है कि नमचला मानव विधि की ओट में खुले आम अनावश्यक उपद्रव न करने लगे और निषेध की शृंखला में अपने को बंधा समझकर भोला मानव धर्म, देश, समाज या कुटुम्ब का निर्मम घात न देखता रहे। विश्ववन्द्य बापू के शब्द हमें ऐसी स्थिति में चेतावनी देते हैं—"...अहिंसा का मार्ग जितना सीधा हैं उतना ही तंग भी। खांड़े की धार पर चलने के समान है। नट जिस डोर पर सावधानी से नजर रखकर चल सकता है...अहिंसा की डोर उससे भी पतली है। जरा चूके कि नीचे गिरे। किसी को न मारना इतना तो है ही। कुविचार मात्र हिंसा है। उतावली हिंसा है। मिथ्या भाषण हिंसा है। द्वेष हिंसा है। किसी का बुरा चाहना हिंसा है। जगत् के लिये जो आवश्यक वस्तु है उस पर कब्जा रखना भी हिंसा है। ...अहिंसा केवल आचरण का स्थूल नियम नहीं बल्कि मन की एक वृत्ति है। जिस वृत्ति में कहीं द्वेष की गन्ध तक न हो उसे अहिंसा समझना चाहिये। ...अहिंसा का भाव दृश्य परिमाण में (दिखावटी) नहीं बल्कि अन्तःकरण की राग-द्वेषहीन स्थिति में है। ...जमीन जाये, धन जाये, शरीर भी जाये, इसकी परवाह ही न करे। जिसने सब प्रकार के भय को नहीं जीता वह पूर्ण अहिंसा का पालन

नहीं कर सकता ।" वस्तुतः बापू की यह चेतावनी जहां एक ओर पापों से भयभीत रहना सिखाती है वहाँ दूसरी ओर पापों के प्रतिकार के लिये लड़ मरने को तैयार रहना भी सिखाती है। बापू ने महावीर की अहिंसा के पुण्य प्रवाह को इस तरह प्रवाहित किया कि जिससे बम्बई के प्रधान मंत्री श्री बी० जी० खेर महोदय कहे बिना न रह सके कि "अगर ऐसा कोई व्यक्ति है जिसने सत्य और अहिंसा को प्रयोग में लाया और जिसे जैन कहा जा सकता है तो वे महात्मा गांधी हैं।"

इससे यह तो स्पष्ट ही है कि जहाँ तक हो सके मानव अहिंसा का पल्ला पकड़े ही रहे। क्योंकि अहिंसा एक ऐसा क्रान्तिकारी अस्त्र सिद्ध हुआ है जिसके नाम पर ही बहुधा अन्य शस्त्रों की अपेक्षा अधिक विजय हुई। सन् १९४७ के १५ अगस्त को प्राप्त वर्तमान स्वतन्त्रता और २६ जनवरी को प्राप्त गणतन्त्रता अहिंसा-अस्त्र-प्राप्त फल का जीता जागता उदाहरण है। विश्वशान्ति सम्मेलन अमेरिका और रूस के भव्यभवनों में न होकर कलकत्ता और वर्धा की पर्णकुटीरों में होना अहिंसा शक्ति का महत्व व्यापक है।

सारांश यह है कि अहिंसा का तात्पर्य महावीर व्यक्ति-विशेष की अहिंसा नहीं है अपितु महावीर की महान् वीर की अहिंसा है। जिसका तात्पर्य केवल जीना और जीने देना नहीं है, प्रत्युत जीना और अपनी ही तरह दूसरों को जीने देना है। इसका सच्चा उदाहरण है—"आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्" तुम वैसा व्यवहार दूसरों के प्रति न करो जैसा

व्यवहार दूसरों द्वारा तुम्हें अपने प्रति बुरा लगता है । "सत्वेषु मैत्री" भावना का कितना भव्य रूप है ! इसी भावना की सिद्धि के लिये उन्होंने प्राणघात को ही नहीं, शारीरिक, मानसिक, और आध्यात्मिक भावना के घात को भी हिंसा कहकर उसे छोड़ने का उपदेश दिया ।

वैदिक यज्ञ का विरोध करने का उनका उद्देश्य उस सम्प्रदाय से चिढ़ नहीं थी, प्रत्युत वेद विहित—"वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति" के शास्त्र घोष के नाम पर "सर्व मेधे सर्व हन्यात्" की ओट में होने वाली हिंसा का, नर-नारियों, पशु-पक्षियों की निर्मम हत्या का विरोध था। इसलिये उन्होंने हिंसक यज्ञों को अनावश्यक बताते हुए वे यज्ञ आवश्यक बतलाए जिनमें निर्दोष निरपराधियों को स्वाहा कर देने के बदले कर्मजाल स्वाहा करने की विधि विहित हो ।

स्पष्ट है कि महावीर की अहिंसा परमधर्म, समुज्वल सत्यालोक, विमल-सफल-साधना, मांगलिक शुभाशीर्वाद, सद्विवेक की झांकी और विश्व-मैत्री का प्राण है। सद्गुण-करण्ड, सहानुभूति का साक्षात्कार और विश्वविजयी अस्त्र है ।

अनेकान्त और स्याद्वाद

[जिस प्रकार स्याद्वाद को मैं जानता हूं उसी प्रकार मानता हूं। मुझे यह अनेकान्त बड़ा प्रिय है ।] **—विश्व बन्धु बापू**

यों तो दर्शन कई हैं पर जैन दर्शन की अपनी एक ऐसी मौलिक विशेषता है जैसी कहीं न मिलेगी। यदि दार्शनिक विचार पद्धति का सूत्रपात एक प्रकार से जैनों से ही प्रारम्भ हुआ कहें

तो अत्युक्ति न होगी। जैन दर्शन प्रत्येक वस्तु को कई दृष्टि बिन्दुओं से देखने का पक्षपाती है।

अनेकान्त

अनेकान्त जैन दर्शन का वह प्रमुख सिद्धान्त है जिसकी नींव पर जैन तत्वज्ञान की महत्ता का महल खड़ा हुआ है। प्रत्येक मत के दो पहलू होते हैं। एक धर्म जो मनुष्य में नैतिकता का संचार करता है और दूसरा दर्शन जो मनुष्य को नैतिक बनने के लिए उसे विचारवान् बनाता है। यही कारण है कि भारत तथा उसके बाहर भी आज अनेक धर्म और दर्शन पाये जाते हैं। धर्म का सम्बन्ध आचार से है और दर्शन का सम्बन्ध विचार से। आचार और विचार एक दूसरे के बिम्ब प्रतिबिम्ब बनते रहते हैं इसलिये न केवल एक दूसरे पर प्रभाव मात्र पड़ता है अपितु दोनों का लक्ष्य भी—'प्राणी को संसार के कष्टों से छुड़ाकर मोक्ष का सच्चा सुख प्राप्त कराना" एक हो जाता है। भारतीय दर्शन के भेद इस तरह समझिये—
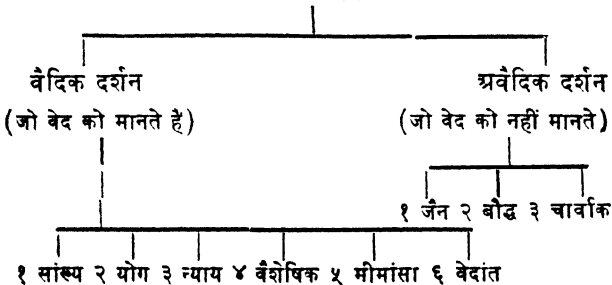
भारत में १. जैनधर्म, २. बौद्धधर्म और ३. वैदिक धर्म आदि धर्म तो अनेक हैं परन्तु यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि भारतीय धर्म और दर्शन की तरह विदेशी धर्म और दर्शन में कोई सम्बन्ध नहीं है। क्योंकि पाश्चात्य दर्शन की उत्पत्ति आश्चर्य से हुई है और वह केवल जिज्ञासा की पूर्ति करता है। संसार की विचित्रता देख लोगों के मन में एक प्रकार का आश्चर्य होता है और जिज्ञासा होती है कि यह क्या है ? उसी आश्चर्य का समाधान और जिज्ञासा की पूर्ति दर्शन करता है।

अनेकान्त शब्द अनेक=एक से भिन्न अर्थात् दो और अन्त=धर्म इन (अनेक+अन्त) दो शब्दों से बना है। अनेक शब्द से दो तीन आदि अनन्त तक धर्म कहे जा सकते हैं परन्तु यहाँ केवल १ विधि, २ निषेध साधक दो ही धर्म विवक्षित हैं। वस्तु का 'अस्तित्व' सिद्ध करने के लिए एक विधि की अपेक्षा होती है तो उसी का 'नास्तित्व' सिद्धि के लिये निषेध की अपेक्षा होती है। इस तरह जिस वस्तु का सद्भाव द्रव्य की अपेक्षा से होता है उसी का अभाव भी पर्याय की अपेक्षा से हो जाता है। सोने की डली का कङ्कण बना देने पर सोना तो जैसा डली का था वैसा कङ्कण बन जाने पर भी है परन्तु डली पर्याय जो पहिले थी वह अब नहीं है, उसके स्थान में कङ्कण पर्याय हो गई। इसलिये जो पर्याय पहिले थी अब नहीं रह गई। अतः सोने का जहाँ द्रव्य की अपेक्षा सद्भाव है वहाँ पर्याय की अपेक्षा अभाव भी है। इस तरह एक ही वस्तु में एक साथ पाये जाने वाले तत्-अतत्, सत्-असत्, नित्य-अनित्य, एक-अनेक आदि

परस्पर विरोधी अनेक युगल धर्मों में विद्यमान विरोध का सापेक्ष दृष्टि से परिहार कर—

"जो वस्तु तत्स्वरूप है वही अतत्स्वरूप भी है। जो वस्तु एक है वही अनेक भी है। जो वस्तु सत् है वही असत् भी है। तथा जो वस्तु नित्य है वही अनित्य भी है।" इस तरह निर्विरोध व्यवस्था स्थापित करता है उसे अनेकान्त कहा जाता है।

एकान्त 'ही' का समर्थक है और अनेकान्त 'भी' का समर्थक है। अनेकान्त बड़ी से बड़ी विरोधी समस्याओं का हल सहज में निकाल देता है। हम अपने दैनिक जीवन में उसे घटाकर देख सकते हैं। एक पिता के दो बच्चों में से यदि एक कहे— "पिता की सम्पत्ति पर मेरा ही अधिकार है" तो दूसरा हिस्सेदार भाई भी कह सकता है—"मैं भी तो उसी पिता का पुत्र हूँ, जिसके तुम हो। इसलिये तुम्हारा नहीं, 'मेरा ही' अधिकार है।" सोचिये इस 'मेरा ही', 'मेरा ही' की खींच तान में क्या गति होगी ? भाई भाई के खून का प्यासा हो जायगा ! परन्तु जब अनेकान्तानुयायी पिता कहेगा—"बेटे ! झगड़ते क्यों हो ? जैसे तुम मेरे बड़े बेटे हो, वैसा ही दूसरा छोटा भी तो मेरा बेटा है। इसलिए मेरी सम्पत्ति पर जैसा तुम्हारा अधिकार है वैसा ही उसका भी अधिकार है। आधा-आधा हिस्सा दोनों ले लो।" लीजिये, जहां 'ही' के स्थान पर 'भी' आया कि काम बन गया। ऐसे कितने ही अनर्थ हैं जो अनेकान्त के आश्रय से सहज ही टल जाते हैं।

विवाद का कारण यह होता है कि वस्तु एक होती है और देखने वाले अनेक होते हैं। उस एक वस्तु को वे अनेक व्यक्ति अपनी-अपनी भिन्न-भिन्न दृष्टि से देखते हैं इसलिए सत्य का दर्शन न होकर उन्हें केवल सत्यांश का दर्शन होता है, पर अपनी-अपनो दृष्टि से वे जो समझ पाते हैं उसे ही सत्य मान बैठते हैं और दूसरों को मिथ्या करार दे देते हैं। यही—'मेरा जो अनुभव है वही सत्य है, दूसरों का झूठ है।' विवाद झगड़े की जड़ बन जाता है। यदि अनेकान्तदृष्टि से वे यह स्वीकार कर लें कि—"जो सत्य है वह अपना है। फिर भले ही वह सत्य किसी का है, किसी भी रूप में हैं, किसी भी मात्रा में, कहीं भी है पर जब सत्य सत्य ही है तब अपना ही है।" इस तरह अपने असत्य को छोड़ कर जहाँ दूसरे का सत्य स्वीकार किया कि झगड़ा या समस्या जैसी कोई वस्तु सामने न रह जायगी। स्पष्ट है कि एकान्त जहां अपूर्णदर्शी हठ है; वहां अनेकान्त पूर्णदर्शी विवेक है।

सचमुच सर्वतोमुखी विशाल दृष्टि से नय-प्रमाण का आश्रय लेकर यदि सत्य का निर्णय और विरोध का परिहार किया जाय तो अनेकान्त के इस समुज्ज्वल स्वरूप के प्रयोग से धार्मिक, सामाजिक, वैयक्तिक एवं राष्ट्रीय सभी समस्याओं का हल सहज होता चला जायगा।

स्याद्वाद

यह पहिले ही कहा जा चुका है कि अनेक धर्मात्मक स्वभाव वाली वस्तु को अनेक व्यक्ति जब अपनी-अपनी दृष्टि से देखते

हैं तब उन सबकी एक दृष्टि न होकर विभिन्न ही दृष्टि होती है। कोई उस वस्तु को किसी रूप समझता है तो कोई दूसरे रूप। इसलिए यह समझ पूर्णतया सत्य न होकर सत्यांश ही रह जाती है। फलतः वस्तु-तत्त्व के निर्णय में विभ्रम हो जाया करता है। परन्तु जब उन विभिन्न दृष्टिकोणों पर समन्वयदृष्टि से विचार किया जाता है तब प्रत्येक दृष्टि से पृथक्-पृथक् ग्रहण किये गये सत्यांशों के समन्वय से एक सम्पूर्ण सत्य समझ में आ जाता है। इस तरह विभिन्न दृष्टिकोणों से विचार करने का नाम स्याद्वाद है। जब अनेक धर्म एक साथ उपस्थित हो जाते हैं तब—"किसे ? किस दृष्टि से ? किस क्रम से ? किस तरह कहा जाय ?" एक ऐसी विकट समस्या उपस्थित हो जाती है जिसका हल केवल 'स्याद्वाद' ही कर सकता है। कहने का तात्पर्य यह कि अनेकान्त द्वारा ग्रहण किये हुए वस्तु के अनेक धर्मों का परिमार्जित, सुव्यवस्थित एवं सुनिश्चित कथन करने का एक मात्र उपाय स्याद्वाद है। अतः अनेकान्त 'वाच्य' और स्याद्वाद 'वाचक' है।

'स्याद्वाद' शब्द स्यात्+वाद इन दो शब्दों के मेल से बना है। 'स्यात्' शब्द का अर्थ—"कथञ्चित् किसी दृष्टि से (From some point of view) है और 'वाद' शब्द का अर्थ 'कथन' करना है। तात्पर्य यह कि अनेक धर्मात्मक वस्तु के अनेक धर्मों में से एक को प्रधान और शेष को गौण बनाते हुए—"वस्तु किसी दृष्टि से इस प्रकार है तो दूसरी दृष्टि से उस प्रकार भी है" इस तरह कथन करने का नाम 'स्याद्वाद' है।

इसलिये यह संशय या संभावनावाद नहीं प्रत्युत दृढ़ निश्चय-वाद है। दधि-मन्थन करने वाली ग्वालिन मथानी की एक रस्सी को एक बार आगे को तान लेती है तो दूसरी बार उसे ढीलाकर दूसरी को आगे की ओर तान लेती है। इसी क्रिया को अनेक बार करने पर वह मक्खन निकाल पाती है। इसी तरह स्याद्वाद कभी एक धर्म को प्रधान करता है तो कभी दूसरे को गौण करता है। इसी क्रिया को अनेक बार करने पर वह वस्तु-तत्त्व का निर्णय कर पाता है। ऐसी अनेक प्रधान और गौण दृष्टियों से कथन करने के लिए स्याद्वाद के सात भङ्ग हुए। मुख्य तीन भङ्ग होते हैं परन्तु उनके संयोग से चार भङ्ग और बनकर सात भङ्ग हो जाते हैं। उदाहरण के लिये १ चीनी २ पानी और ३ नींबू के रस से बना शर्बत ठीक है। विश्लेषण कर देखिये सात प्रकार के ही स्वाद होंगे—

१. चीनी
२. पानी
३. नींबू का रस
४. चीनी, पानी
५. चीनी, नींबू का रस
६. पानी, नींबू का रस
७. चीनी, पानी, नींबू का रस

वस्तु शाश्वत एक ही है परन्तु वह सात प्रकारों में विभाजित हो गई। अतः जब तक विभिन्न दृष्टियों का आश्रय लेकर क्रम-बद्ध न कहा जायगा तब तक उसका कथन कर सकना

कठिन ही नहीं असम्भव भी है। इसी तरह वस्तु एक ही होता है परन्तु वह सत्-असत् आदि अपने धर्म के अनुसार सात प्रकारों में विभाजित हो जाती है अतः उसके कथन के लिये—

१. स्यादस्ति—कथंचित् है।
२. स्यान्नास्ति—कथञ्चित् नहीं है।
३. स्यादस्तिनास्ति—कथञ्चित् है और नहीं है।
४. स्यादवक्तव्य—कथञ्चित् अवक्तव्य है।
५. स्यादस्ति अवक्तव्यश्च—कथञ्चित् है पर अवक्तव्य है।
६. स्यान्नास्ति-अवक्तव्यश्च—कथञ्चित् नहीं है, अवक्तव्य है।
७. स्यादस्ति नास्ति अवक्तव्यश्च—कथञ्चित है, नहीं है, और अवक्तव्य है।

स्याद्वाद के इन सात भङ्गों का आश्रय लेना पड़ता है।

लोकव्यवहार में भी हम देखते हैं कि एक व्यक्ति जो अपने पुत्र का पिता है, वही अपने भानजे की अपेक्षा मामा, छोटे भाई की अपेक्षा बड़ा भाई, साले की अपेक्षा बहनोई, मां बाप की अपेक्षा पुत्र, स्त्री की अपेक्षा पति, बहिन की अपेक्षा भाई और सास की अपेक्षा जमाई भी है। उसे यदि एक व्यक्ति की दृष्टि से केवल पिता ही कहा जाय तो वह अपने भानजे, छोटे भाई, साले, स्त्री, बहिन यहां तक कि अपने जन्मदाता माता पिता का भी पिता हो जायगा जो कि धर्म, समाज और लोकविरुद्ध ही होगा। उपद्रव तो जो होंगे वे होंगे ही। उक्त विशेषताएं ही इस बात की द्योतक हैं कि स्याद्वाद एक अलौ-

किक सिद्धान्त है जिसकी आवश्यकता संसार को है। विश्व-वन्द्य बापू ने जब अनेकान्त, स्याद्वाद को अपनी परीक्षा कसौटी पर कसकर खरा पाया तब कह उठे—"जिस प्रकार स्याद्वाद को मैं जानता हूँ उसी प्रकार मानता हूँ। मुझे यह अनेकान्त बड़ा प्रिय है।"

भगवान महावीर द्वारा प्रचारित जैन सिद्धान्त का अनेकान्त और स्याद्वाद विश्व के लिये सत्यालोचक दीपक के समान है।

कर्मवाद

[जिस प्रकार श्री कृष्ण का मुख्य प्रबोध निष्काम-कर्मयोग, बुद्धदेव का समानभाव, पतञ्जलि का राजयोग, और शङ्कराचार्य का ज्ञानयोग को प्रकट करने के लिये था वैसे ही श्रमण भगवान श्री महावीर के उपदेश का लक्ष्यबिंदु कर्मवाद को प्रकाशित करने का था। श्री महावीर देव ने कर्म के कुटिल कार्यों का और कठोर नियमों का उद्घाटन जैसा किया है वैसा औरों ने नहीं किया। भगवान महावीर का यह कर्मवाद स्वरूप में अत्यन्त सूक्ष्म और गहन होने पर भी अनुभवगम्य और बुद्धि-गम्य है।] **(श्री मुनि जिनविजय जी)**

प्रायः सभी भारतीय दार्शनिक विद्वानों ने कर्म शब्द का प्रयोग अपने विभिन्न सिद्धांतों के अनुसार विभिन्न रूप में किया है। **मीमांसक** क्रिया-कांड को कर्म कहते हैं तो **वैशेषिक** एक द्रव्य में समवाय से रहने वाले गुण-शून्य संयोग-विभाग में कारणान्तर निरपेक्षता को कर्म कहते हैं। **सांख्य** संस्कार अर्थ में कर्म का प्रयोग करते हैं तो **गीताकार** क्रियाशीलता को कर्म मानते हैं। **महाभारत** में आत्मा को बांधने वाली शक्ति

को कर्म कहा गया है तो **बौद्ध साहित्य** में प्राणियों की विविधता के कारणों को कर्म कहा गया है।

जैन-दर्शन में कर्म की वैज्ञानिक विशद व्याख्या है—"कषाय (क्रोध-मान-माया-लोभ) तथा योग (मन-वचन-काय की चञ्चलता से आत्म प्रदेशों में परिस्पन्दन) के निमित्त से आत्मा के प्रदेशों में कम्पन होता है और उस कम्पन से पुद्गल का परमाणु-पुञ्ज आकर्षित होकर आत्मा के साथ मिल जाता है, उसे कर्म कहते हैं।" जिन भावों के द्वारा पुद्गल आकर्षित हो जीव के साथ सम्बन्धित होता है उसे भावकर्म कहते हैं और आत्मा में विकृति उत्पन्न करने वाले पुद्गल पिंड को द्रव्यकर्म कहते हैं।" जैनदर्शन में कर्म की इस विशद व्याख्या का सार—'व्यक्ति के आत्म-विकास में बाधक शक्ति का नाम कर्म' है।

भारतीय दार्शनिकों द्वारा की गई अन्य कर्म परिभाषाओं के साथ जैनदर्शनमान्य परिभाषा का अनुशीलन सिद्ध करता है कि अन्य दर्शनों में किसी ने कर्मसिद्धांत की प्रधानता को नाममात्र के लिये माना है तो किसी ने सन्त तुलसीदास जी के शब्दों में—

> "कर्म प्रधान विश्व करि राखा।
> जो जस करहिं सो तस फल चाखा॥"

कर्मप्रधानता के गीत गाये भी तो प्राणी का भाग्य-विधाता बनने का अधिकार कर्मकारक प्राणी को न देकर भगवान् को दिया है। परन्तु जैनसिद्धान्त 'प्रत्येक प्राणी जो कर्म करता है

वही अपना भाग्य-विधाता है' इस तरह कर्म कारक प्राणी ही को उसका भाग्य-विधाता मानता है और वह इसलिये कि जो जैसी करनी करता है वैसा ही फल पाता है। भगवान् महावीर ने कहा—"व्यक्ति यदि अपने भाग्य का निर्माण भविष्य के समुज्ज्वल प्रकाश में चमकता देखना चाहता है तो अच्छे कर्म करे और यदि अपने भाग्य सूर्योदय को अवनति के अस्तावल पर अस्त कर देना चाहता है तो अविवेकपूर्ण असत्कर्म ही पर्याप्त हैं। इस तरह उत्थान और पतन के दोनों ही मार्ग हैं उन पर चलने का निश्चय मनुष्य स्वयं कर सकता है।"

कैमरा में जब तक फिल्म रहता है, उसका लेंस पावर (ग्राहकशक्ति) और समयादि भी ठीक है तब बटन दबाया कि उसके सामने आने वाले पदार्थ का चित्र खिच जाना स्वाभाविक है। उसी तरह जब तक कैमरा रूपी शरीर में राग-द्वेष का लेंस पावर (आकर्षकशक्ति) अपना काम कर रहा है, कषाय योग आदि के सद्भाव का समय है तब तक आत्मा के साथ कर्म का सम्बन्ध होना स्वाभाविक है। इससे सिद्ध होता है कि जबतक रागद्वेष की सन्तति है तबतक कर्म-परम्परा की भी सन्तति है। रागद्वेषपरम्परा छूटी कि कर्म-परम्परा भी नष्ट हो जाती है। आत्म-शक्ति और आत्म-निर्मलता के साथ जहां आत्म-विश्वास जागृत हुआ कि आत्मा को परमात्मा बन जाने में कोई विलम्ब नहीं है।

संसार में ज्ञानी-मूर्ख, सुखी-दुखी, धनी-निर्धन, दीर्घायु-अल्पायु, सूझते-अन्धे आदि जो विभिन्न पुरुष दिखते हैं उनकी

इस विभिन्नता का कारण कर्म है। क्योंकि जिसतरह व्यक्ति की जठराग्नि की तीव्र, मन्द, मध्यम पाचक शक्ति के अनुसार उसके द्वारा खाये गये भोजन से रस, रक्त, मांस, मेदा, अस्थि, मज्जा और वीर्य की उत्पत्ति अलग-अलग व्यक्तियों में अलग-अलग होती है, उनकी स्वस्थ्यता में भी अन्तर होता है उसी तरह जीव की तीव्र, मध्यम और मन्द कषाय के अनुसार जीव के भावों द्वारा गृहीत कार्माण-वर्गणाओं का अलग-अलग व्यक्तियों में अलग-अलग परिणमन होता है। उसी के अनुसार वे सुखी-दुखी, ज्ञानी-मूर्ख, धनी-निर्धन, सूझते-अन्धे, आदि होते हैं। उनकी शारीरिक मानसिक ग्राहकशक्ति में अन्तर होता है। अतः कर्म के मूल भेद ८ और प्रभेद १४८ होते हैं।

१. ज्ञानावरणकर्म—जो आत्मा की ज्ञानज्योति को ढक दे।

२. दर्शनावरणकर्म—जो आत्मा की दर्शनशक्ति आवृत करे।

३. वेदनीयकर्म—जो आत्मा को सुख दुःख दे।

४. मोहनीयकर्म—जो मद्य-पायी की तरह व्यक्ति को आत्म-स्वरूप से विस्मरण-शील बना दे।

५. आयुकर्म—जो जीव को प्राणी की निश्चत अवधि तक उसी शरीर में रोक रखे।

६. नामकर्म—जो जीव की अगणित आकृतियों और विविध प्रकार के शरीरों का निर्माण करे।

७. गोत्रकर्म—जो जीव को उच्च नीच संस्कार वाले कुल में उत्पन्न करे।

८. अन्तरायकर्म—जो मनुष्य के दान, लाभ, भोग, उपभोग आदि में बाधा डाले।

उक्त कर्मों में १, २, ४ और ८ वां कर्म आत्मगुण घातक होने से घातियाकर्म कहा जाता है। शेष आत्मगुणों को क्षति नहीं पहुँचाते अतः अघातियाकर्म कहलाते हैं। जीव की आत्म-मलिनता और निर्मलता के अनुसार कर्मबन्धन की हीनता प्रकर्षता में अन्तर पड़ता है। चार घातिया कर्म नष्ट करने पर अरहन्त और अष्ट कर्म नष्ट करने पर सिद्ध पद प्राप्त होता है।

भगवान् महावीर ने कहा—"यदि कर्म जाल काट कर स्वतन्त्र (सिद्ध) होने की इच्छा है तो रत्नत्रय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की तेज तलवार संभालो। अधीर असमर्थ होने की आवश्यकता नहीं; जो कुम्भकार घड़ा बनाता है वही उसे फोड़ भी सकता है। जो कर्म बांधता है वही उन्हें काट भी सकता है।"

यह है भगवान महावीर का कर्मवाद जो व्यक्ति को स्वयं अपना भाग्य-विधाता बनने का अवसर देता है।

अपरिग्रहवाद

[सुई के छेद में से ऊँट जा सकेगा लेकिन पैसे का मोह रखने वाला अहिंसा का साक्षात्कार नहीं कर सकेगा। चाहे नाम उसका वह लेता रहे।] (जीसस क्राइस्ट)

"संयम की शिक्षा का स्वाभाविक परिणाम, सांसारिक सुखों का स्वेच्छा से त्याग, वासनाओं से विरक्ति, आडम्बरों

से निर्लिप्ति, तथा वस्तुओं के संग्रह का मोह त्याग" यह अपरिग्रह का सरल सुन्दर लक्षण है। अतः विश्वशान्ति का प्रधान कारण यदि है तो वह अपरिग्रह है। अशान्ति के कारण आज से नहीं प्राचीन काल से ही चले आ रहे हैं। इन कारणों से मनुष्य को ज्यों ज्यों दासता की शृङ्खला में बांधने का प्रयत्न किया गया त्यों त्यों उसने अपने व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के अधिकार का प्रयोग कर स्वतन्त्र भी होना चाहा। इस तरह दासता और स्वतन्त्रता की रस्सा खिचाई में न जाने कितनी मानवी भावनाओं का, प्राणियों का विध्वंस हुआ। महावीर की आत्मा इस अशान्ति को शान्त करने के लिये विकल हो उठी। उन्होंने अपने अपरिग्रहवाद सिद्धान्त का प्रचार किया और ऐसा प्रचार कि स्वयं करके ही बताया कि मानव को अपनी भौतिक शारीरिक एवं मानसिक शक्तियों का प्रयोग अपने तक ही सीमित न रखकर दूसरों को भी उससे लाभ लेने देना चाहिये। इस तरह स्वतन्त्रता की प्रथम शर्त उन्होंने अपरिग्रही होना रखी क्योंकि जो व्यक्ति स्वतन्त्र होना चाहता है उसे अपने दैनिक जीवन में स्वावलम्बी होने की आवश्यकता है और शर्त की पूर्ति के लिये उन्होंने समझाया कि जो अपना नहीं है उसके परिग्रह में आसक्ति मत करो। जाति, देश, कुटुम्ब आदि के मोहक भेदों को भूलकर पर को पर समझ सदा के लिये छोड़ दो।

बाह्य और आभ्यन्तर के भेद से परिग्रह दो प्रकार का होता है और उसके त्याग के मार्ग होते हैं गृहस्थ-मार्ग और

साधु-मार्ग। गृहस्थ अपनी आजीविका के निर्वाह के लिये न्यायोचित तरीके से अर्थ का अर्जन करे परन्तु आवश्यकता से अधिक अर्जन न करे, यदि करे भी तो शेष अनावश्यक अर्जित-द्रव्य दूसरों के उपयोग के लिये त्याग दे। धार्मिक, शैक्षिक संस्थाओं द्वारा सार्वजनिक उपयोग के लिये अपना द्रव्य समर्पित कर दे। इसके लिये उसे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आदि का ध्यान रखना होगा। साधु-मार्ग का तो कहना ही क्या है? वे पीछी, कमण्डलु और शास्त्र के सिवा अन्य सब वस्तुओं का त्याग कर ही देते हैं, यहां तक कि आहार भी लेते हैं तो स्वाद के लिये नहीं प्रत्युत, निर्विघ्न धर्माराधन के लिये। शरीर की स्थिति बनाये रखना आवश्यक समझ उदरपूर्ति के लिये जैसा मिला (केवल पवित्र होना चाहिये) स्वीकार कर सन्तोष कर लेते हैं।

त्याग तो सभी परिग्रहों का कठिन है ही परन्तु अन्तरङ्ग परिग्रह जिसे विचारकों ने मूर्च्छा कहा है, त्यागना सबसे कठिन है। जब तक मोह माया की परम्परा है; उसे त्यागना बड़ा कठिन है। महावीर जैसे महान् वीरों का ही यह कार्य था जिन्होंने अपरिग्रहवाद के सिद्धान्तों का प्रचार अपने आप पर लागू कर विश्व को शान्ति का एक सुगम-सुलभ-सरल मार्ग बताया।

वस्तुत: शान्ति का मार्ग प्रदर्शन करने वाले को अपरिग्रही होना चाहिये तभी वह सफल हो सकता है। महावीर और बुद्ध इसके उदाहरण हैं। शक्तिशाली सम्राट् अशोक जो काम सत्ता के बल पर कठिनाई से कर सके उसे बापू ने अपनी

साधना, सेवा, प्रचार, संगठन और अपरिग्रह के बल पर सहज ही कर दिखाया। परिग्रह के नाम पर होने वाली बुराई, गन्दगी, झूठ,धोखा-धड़ी, हिंसा, मारकाट के विरुद्ध उन्होंने संघर्ष भी किया परन्तु उनका संघर्ष विध्वंस के लिये नहीं रचना के लिये होता था और वह रचना शान्ति की रचना होती थी। उनका प्रयत्न सदा समता का—अपरिग्रहवादिता का था क्योंकि वे जानते थे कि जब तक राष्ट्रों की, व्यक्तियों की, सम्पत्ति में समता न होगी तब तक शान्ति असम्भव है।

लड़ाई की परिभाषा का विश्लेषण करें तो उसमें आर्थिक-स्पर्धा, लालच और विभिन्न चीजों पर कब्जा पाने की होड़ का परिणाम ही उसमें प्रधान दिखाई देगा। इस विष बीज के उन्मूलन के लिये हमारा दैनिक जीवन यदि सादगी से परिपूर्ण हो तो शान्ति आकाशकुसुम ही क्यों बनी रहे! परन्तु जीवन में आज सादगी है ही कहां? इसका कारण है कि पिछले युद्धों के परिणामस्वरूप राष्ट्र भले ही आज निःशक्त से हो रहे हैं, प्रत्यक्ष लड़ाई के लिये असमर्थ भी दिख रहे हैं, परन्तु लड़ने की तैयारी वे अब भी कर रहे हैं। लड़ने का दावा वे आज नहीं तो कल के लिये खुला ऐलान भी कर रहे हैं! रूस के पास अविभाजित भारत से पांच गुनी अधिक भूमि है, जनसंख्या भी लगभग आधी है, फिर भी सन्तोष नहीं। अमेरिका सोने का द्वीप कहा जाता है पर उसे भी दूसरों का शोषण किये बिना शान्ति नहीं! आस्ट्रेलिया की जनसंख्या केवल ६० लाख है, भूभाग भी भारी विशाल है परन्तु दूसरे

देशों की जनता जब आवश्यक खाद्य पदार्थों के लिये लालायित है तब उसे कहां अपनी स्वार्थ साधना के बिना सस्ते मूल्य पर खाद्य सामग्री की पूर्ति का ध्यान है ? यह बर्बरता और यह विषमता राष्ट्र का रोग है। जब तक इनकी चिकित्सा न होगी शान्ति स्वप्न मात्र है। शान्ति के पुजारी जो होते हैं उन्हें इस तथ्य को स्वीकार करना ही पड़ता है। वाशिंगटन के डॉ० मोर्डेकाई जान्सन को विश्व-शान्ति-सम्मेलन के अवसर पर मगन वाड़ी की सादगी से प्रभावित होकर कहना ही पड़ा— "यहां की बांसों की बनी, और मिट्टी से लिपी दीवारों और मगनदीपों की मन्द रोशनी में मैं उस गह्वण का दृश्य देख रहा हूं जिसमें आज से दो हजार वर्ष पहिले प्रभु ईसा ने जन्म लिया था !" और अमेरिका के श्री रे न्यूटन को भी कहना पड़ा—" पश्चिम के लोग गांधी जी की इस विचारधारा को शीघ्र ही आत्मसात् न कर सकेंगे, पर यदि उन्हें विनाश की ओर अग्रसर नहीं होना है तो उन्हें आज नहीं तो कल यह व्याख्या मान्य करनी ही होगी।"

पुरान कुरान की बात तो ठीक ही है बाइबिल को भी स्वीकार करना पड़ा—"सज्जनता सबसे बड़ा धन है। मनुष्य को जो उसके पास है उसी से सन्तुष्ट रहना चाहिये। हम संसार में कुछ नहीं लाये न लेकर जावेंगे।"

सिंहनी का दूध सोने के पात्र में ठहर सकता है, महावीर के मंत्र को बापू और आज के आध्यात्मिक संत वर्णी जी जैसी विश्व-वन्द्य विभूतियां ही समझ सकती हैं। इसलिये बापू ने कहा—

१. वास्तव में चुराया हुआ न होनेपर भी अनावश्यक संग्रह चोरी का माल हो जाता है। परिग्रह का अर्थ है संचय या इकट्ठा करना। सत्यशोधक अहिंसक परिग्रह नहीं कर सकता।

२. धनी के घर उसके लिये अनावश्यक चीजें भरी रहती हैं, मारी मारी फिरती हैं, खराब होती रहती हैं, दूसरी ओर उनके अभाव में करोड़ों मनुष्य भटकते हैं, भूखों मरते हैं, जाड़े से ठिठुरते हैं। यदि सब लोग अपनी आवश्यकता भर को ही संग्रह करें तो किसी को तंगी न हो और सब को सन्तोष रहे।

३. आदर्श आत्यन्तिक अपरिग्रह तो उसी का कहा जायगा जो मन से और कर्म से दिगम्बर है।

४. याद रखें कि वस्तुओं की भांति विचार का भी परिग्रह न होना चाहिये। अपने दिमाग में निरर्थक ज्ञानभार लेनेवाला मनुष्य परिग्रही है।

५. सच्चे सुधार का, सच्ची सभ्यता का लक्षण परिग्रह बढ़ाना नहीं है, बल्कि विचार और इच्छापूर्वक उसका घटाना है। परिग्रह घटाते जाने से सच्चा सुख और सच्चा सन्तोष बढ़ता जाता है, सेवाशक्ति बढ़ती है।

६. अभ्यास से मनुष्य अपनी आवश्यकताओं को घटा सकता है और ज्यों-ज्यों घटाता जाता है त्यों-त्यों वह सुखी, शांत और सब तरह से आरोग्यवान होता जाता है।"

यह था बापू की भोली भाषा में महावीर के शान्ति सूत्र का विशद वर्णन जिसे देश विदेश ने आवश्यक समझा, सत्य समझा।

भारत में होने वाले विश्व शान्ति सम्मेलन में समागत सदस्यों ने भी इस वस्तु-तत्व को स्वीकार किया कि यदि विश्व-शान्ति सम्भव है तो एकमात्र उस अपरिग्रहवाद के मार्ग पर चलने में है जो आधुनिक पूंजीवाद और समाजवाद की संघर्षात्मक कड़ियों को तोड़ सच्चे साम्यवाद की स्थापना कर सकता है। इसीलिये उन्होंने कहा था—"हम उस भारत को देखने आये हैं जहाँ बैठकर विश्व का शान्ति दूत शान्तिसूत्र का संचालन करता था।"

आज के अशांत विश्व की दयनीय दशा का कारण पूज्य वर्णी जी ने भी परिग्रह बताया है। उन्होंने कहा—

"संसार में जितने पाप हैं उनकी जड़ परिग्रह है।...आज यदि इस परिग्रह में मनुष्य आसक्त न होते तो यह समाजवाद या कम्यूनिस्टवाद क्यों होते। आज यदि परिग्रह के धनी न होते तब ये हड़तालें क्यों होतीं ? यदि परिग्रह पिशाच न होता तब जमींदारी प्रथा एवं राजसत्ता का विध्वंस करने का अवसर क्यों आता ? कॉंग्रेस जैसी स्वराज्य दिलाने वाली संस्था की विरोधी निन्दा क्यों करते ? स्वयं उनके स्थान में अधिकारी बन बैठने की चिन्ता भी क्यों करते ? हम उच्च हैं, आप नीच हैं यह भेद-भाव भी क्यों होता ? परिग्रह पिशाच की यह महिमा है कि इस कुए का जल तीन वर्णों के लिये है, इसमें यदि शूद्र के घड़े पड़ गये तब अपेय हो गया, जब कि टट्टियों से होकर भी नल की नली जाने पर भी जल पेय बना रहता है। ऐसी दुर्भावनाएं तक उत्पन्न करता है। सम्प्रदायवादियों ने धर्म

तक को निजी धन मान लिया है और धर्म की सीमा बांध दी है। ...परिग्रह लेने में दु:ख, देने में दु:ख, भोगने में दु:ख, धरने में दु:ख, सहने में दु:ख ? धिक्कार इस दु:खमय परिग्रह को।"

अपरिग्रही बापू और वर्णी जी के अनुभव यह बतलाते हैं कि एक-देश-रूप (अणुव्रत रूप) भी अपरिग्रह पालन धन और साम्राज्य के लिये होने वाली उस प्रतिद्वन्द्विता का अन्त कर सकता है जो आधुनिक युग की सजीव शाप, दु:खों की जननी एवं सर्वभक्षी भौतिकवाद की परिपोषिका है। उस प्रतिद्वन्दिता का अन्त ही विश्व में शान्ति साधक है। इससे यह सहज ही सिद्ध हो गया कि यदि विश्व में शान्ति सम्भव है तो उस अपरिग्रहवादी सिद्धान्त की सक्रिय योजना से जिसका श्रीगणेश महावीर ने किया।

अध्यात्मवाद

महावीर-स्वामी की वैयक्तिक, सामाजिक तथा दार्शनिक विचारधारा के साथ आध्यात्मिक विचारधारा का विश्लेषण इस प्रमाण का प्रतीक है कि उन्होंने संसार की सम्पूर्ण समस्याओं को सुलझाने के लिए आध्यात्म जगत जीवात्मा का बाह्य तथा अन्त: सूक्ष्म निरीक्षण कर संसार के दु:खातुर प्राणियों के समक्ष एक सच्चा सीधा मार्ग उपस्थित किया है। उन्होंने अपने उपदेश में जीवात्मा के सम्बन्ध में कहा—"संसार में दो प्रकार के पदार्थ हैं—१. चेतन (सजीव) २. अचेतन (निर्जीव) चेतन के प्रमुखतया दो भेद है १. संसारी (कर्मों के कारण संसार में

बार-बार जन्म धारण कर भ्रमण करने वाले एक इन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय और पांच इन्द्रिय जीव) २ मुक्त (कर्मबन्धन से मुक्त होने के कारण मोक्ष प्राप्त)। अचेतन के पांच भेद हैं पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। इनमें से जीव (चेतन) तथा पुद्गल सभी के अनुभव में आते हैं। जाव पदार्थ प्रायः सभी को प्रत्यक्ष तथा स्वानुभव-गम्य हैं। सुख दुःख का प्रत्यक्ष अनुभव जिसे होता है वही आत्मा है। मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ, यह प्रतीति जिसे होती है वही आत्मा है। जो रूप, रस, गंध और स्पर्श के द्वारा जाना जाता है वही रूपादि गुणबाला पुद्गल पदार्थ है। इन दोनों पदार्थों (आत्मा-पुद्गल) की परस्पर में जो व्यवस्था होती है उसीका नाम संसार है। संसार का मूल कारण मिथ्यादर्शन अर्थात् अनात्मीय पदार्थों में आत्मीय भाव है उसीके प्रभाव से यह आत्मा अनन्त संसार का पात्र होता है। इसी संसार में यह जीव चतुर्गति सम्बन्धी दुःखों को भोगता हुआ काल व्यतीत करता है। वास्तविक रूप में जीव तथा पुद्गल दोनों ही स्वतन्त्र है, दोनों की परिणति भी स्वतन्त्र हैं परन्तु यह जीव अज्ञानवश अनादिकाल से पुद्गल को अपना मान कर अनन्त संसार का पात्र हो रहा है। आत्मा में जानने देखने की शक्ति है परन्तु यह जीव उस शक्ति का यथार्थ उपयोग नहीं करता अर्थात् पुद्गल को अपना मानता है ! अनात्मीय शरीर को आत्मा मानकर उसी की रक्षा के लिए अनेक यत्न किया करता है। परमार्थ से देखा जाय तो कोई किसी का नहीं है। इसलिये परसे ममता को त्यागना ही श्रेयस्कर है। ममता का त्याग तभी होगा जब इसे

अनात्मीय जानोगे, जब इसे पर समझोगे तब स्वयमेव इससे ममता छूट जावेगी। ममता का छूटना ही संसार दु:ख के नाश का मूल कारण है।" महावीर के सच्चे अनुयायी भारत के परम आध्यात्मिक सन्त पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक गणेशप्रसाद जी वर्णी महाराज ने उपाय बताते हुए कहा है—

१—अनात्मीय पदार्थों को अपने से भिन्न जानने के लिए तत्वज्ञान का अभ्यास करना चाहिए। आत्मज्ञान हुए बिना मोक्ष का पथिक होना कठिन है, कठिन क्या असम्भव भी है। अत: अपने स्वरूप को पहिचानो तथा अपने स्वरूप को जानकर उसमें स्थिर होओ। यही संसार से पार होने का मार्ग है।

२—हमारी अनादि काल से जो यह बुद्धि है कि वह हमारा भला करता है, वह बुरा करता है, हम पराया भला करते हैं स्त्री पुत्रादि नरक ले जाने वाले हैं, भगवान् स्वर्ग मोक्ष देने वाले हैं—यह सब बिकल्प छोड़ो। अपना जो शुभ परिणाम होगा वही स्वर्ग मोक्ष ले जाने वाला है तथा जो अपना अशुभ परिणाम होगा वही नरकादि गतियों में ले जाने वाला है। तात्पर्य यह कि पर पदार्थ के प्रति रागद्वेष करने का जो मिथ्या अभिप्राय हो रहा है उसे त्यागो, अनायास निज मार्ग का लाभ हो जावेगा।

३—पदार्थ सुखदाई या दु:खदाई नहीं अपितु हमारी कल्पना ही सुखदाई और दुखदाई है। इसलिये पदार्थों को इष्टानिष्ट मानना मिथ्या है। अत: आत्मीय परिणति में जो मिथ्या कल्पना

है उसे त्याग देना आवश्यक हैं। जिस दिन हमारी यह मान्यता इन बिकल्पों से मुक्त हो जावेगी, अनायास ही तज्जन्य दुःखों से छूट जावेगी। इसी का नाम मोक्ष है।

४—सुख व शान्ति का कारण इच्छा का अभाव है। आत्मा को दु:ख देने वाली वस्तु इच्छा ही है। वह जिस विषय की हो उसकी पूर्ति जब तक नहीं होती तब तक वह जीव दुखी रहता है। आत्मा भी आगामी दु:खों का पात्र होता है। यह सब होने पर भी यह आत्मा निजहित करने में संकुचित रहता हैं। संसार की वासनाएं इसे सताती रहती हैं। अतः इच्छाओं का अभाव कल्याण के लिये नितान्त आवश्यक है।

५—आशा का त्याग सुख का मूल है। आशा सभी दु:खों की जड़ है। जिन्होंने आशा जीत ली उन्होंने करने योग्य जो था सब कर लिया। आशा का विषय इतना प्रबल है कि कभी इसका गर्त भरा नहीं जा सकता।

आत्मा ही मलिन होने से संसार की साधक है और आत्मा निर्मल होने से मोक्ष-मार्ग की साधक है। अतः जहां तक बने आत्मा की मलिनता को दूर करने का प्रयास करना चाहिये।

आत्मा में अनन्त शक्ति तिरोभूत है। जैसे सूर्य का प्रकाश मेघ पटलों से आच्छादित होने पर अप्रगट रहता है वैसे ही कर्मों के आवरण से आत्मा की अनन्त शक्तियां प्रगट नहीं होती। जिस समय आवरण हट जाते हैं उसी समय वे शक्तियां पूर्ण रूपेण विकसित हो जाती हैं। निगोद से लेकर मनुष्य-पर्याय धारण कर मुक्ति के पात्र बने, इससे आत्मा की अचिन्त्य

शक्ति ही तो विदित होती है। अतः हमें उसी आत्मा को जानने का अवश्यमेव प्रयत्न करना चाहिए। अपने को लघु मानना महती अज्ञानता है, पवित्र आत्मा को पतित बनाना है, उसके साथ अन्याय करना है। अरे! तुझमें तो अनन्त-ज्ञान की शक्ति तिरोभूत है। अपने को मान तो सही कि—मुझमें परमात्मा होने की शक्ति विद्यमान है। जैसे बालक मिट्टी के खिलौने बनाते और फिर बिगाड़ देते हैं वैसे ही हमने संसार बनाया और हम ही यदि चाहें तो संसार से मुक्त हो सकते हैं।"

भगवान् महावीर ने अपने दिव्योपदेश में मानव के आत्म-कल्याण के लिये जो कुछ कहा उसका सुन्दर निदर्शन वर्णी जी के उक्त उपाय सूत्रों में अपने उत्कृष्टतम रूप में विद्यमान है। इसका अनुसरण करने वाला कोई भी पथभ्रान्त पथिक सन्मार्ग पर चलकर आत्म-कल्याण कर सकता है:

श्रद्धाञ्जलि

भगवान् महावीर के त्याग पूर्ण जीवन और सिद्धान्तों का प्रचार ही हमें नई गति विधि, नई चेतना और नई जागृति दे सका है। अपने समय में जिस अनाचार और अत्याचार पूर्ण हिंसात्मक युग को उन्होंने विश्व शान्ति का सन्देश दिया वह न केवल उसके अनुरूप और तभी तक वैज्ञानिक था प्रत्युत आज भी वह शान्ति विधायक और वैज्ञानिक बना हुआ है। तब धर्म के नाम पर हिंसा होती थी, अब राष्ट्र के नाम पर होती है। एक ओर परमाणु बम की संहारक शक्ति मानवता को जीवित जला देना चाहती है तो दूसरी ओर हाईड्रोजन बम बर्बर दान-

वता का अकाण्ड ताण्डव रचकर कभी आगे होने वालेप्रलयङ्कर दृश्य अभी उपस्थित करना चाहता है ! ऐसे समय में आपस में लड़ मरने वाले राष्ट्र महावीर की अहिंसा का प्रयोग करें तो हिंसक यज्ञों की तरह युद्ध की धधकती भीषण ज्वालाएँ भी सदा को शान्त हो सकती हैं। महावीर द्वारा प्रचारित यह पांच महा सिद्धान्त, आधुनिक रचनात्मक कार्यक्रम से बहुत ही उच्च कोटि का रचनात्मक कार्यक्रम है। कहना होगा कि महावीर जैसे मौन सेवा-व्रती थे वैसे ही एक महान् विचारक, सफल प्रचारक, उग्र क्रान्तिकारी, प्रबुद्ध बुद्धिवादी एवं महा-महिम विभूतिशाली भी थे। उनके पांच महा सिद्धान्त विश्व शान्ति का सफल सन्देश है। उसका प्रचार मानव समाज को कल्याणकारी सुख-शान्ति-समृद्धि का वरदान होगा।

यदि हम यह कर सके तो महा मानव, महा सन्देश वाहक, महा नायक, महावीर के प्रति हमारी यही सच्ची-श्रद्धांजलि होगी।

श्रीराम और महावीर

मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान श्री रामचन्द्र जी तथा जैनधर्म के अन्तिम धर्म प्रचारक—तीर्थङ्कर श्रीमहावीर स्वामी—दोनों ही भारतवर्ष के पूज्य महापुरुष हैं। वह वे प्रकाश स्तम्भ हैं जिनके दिव्य भव्य प्रकाशपुञ्ज में जन-मन ने अपने कल्याण का मार्ग प्राप्त किया, प्राप्त करता आ रहा है और प्राप्त करता रहेगा। जैनधर्म में राम का महनीय व्यक्तित्व है।

जैन शास्त्रों के अनुसार—२४ तीर्थङ्कर, १२ चक्रवर्ती, ९ नारायण, ९ प्रतिनारायण और ९ बलभद्र यह ६३ शलाका पुरुष माने गये हैं। इनमें से महावीर तीर्थङ्कर माने गये हैं, राम और लक्ष्मण नारायण तथा बलभद्र माने गये हैं। राम को जैन लोग उसी तरह सिद्ध-परमात्मा के रूप में पूजते हैं जैसे महावीर को सिद्ध परमात्मा के रूप में पूजते हैं। जैन धर्म में किसी को अवतार नहीं माना गया है अपितु यह माना गया है कि प्रारम्भ में वे एक साधारण व्यक्तित्व वाले होते हैं—हम आप जैसे हाड़ माँस के मानव होते हैं परन्तु बाद में अपने विशेष लोकोपकारी कार्यों और विशाल उदार भावनाओं को क्रियात्मक रूप देने के कारण लोकोत्तर पूज्य प्रतिष्ठा युक्त व्यक्तित्व शाली या महान् पद के अधिकारी बन जाते हैं। सभी के हृदयों में स्वपर कल्याण की वह मन्दाकिनी प्रवाहित होती है जिसकी विमल सलिल धारा में मानव अपने पाप पुञ्ज को प्रक्षालित कर पुण्यात्मा बनने का सौभाग्य प्राप्त करता है। अस्तु।

भगवान श्री रामचन्द्र जी के पुण्यचरित का वर्णन आचार्य जिनसेन ने अपने रामचरित में इस प्रकार किया है—

श्रीमद्रामचरित्रमुत्तममिदं नानाकथापूरितम्,
पापध्वान्तविनाशनैकतरणि कारुण्यवल्लीवनम्।
भव्यश्रेषिमनःप्रमोदसदनं भक्त्यानघं कीर्तितम्,
नानासत्पुरुषालिवेष्ठितयुतं पुण्यं शुभं पावनम्॥

(रामचरित्र १८०)

परमोत्तम, नाना कथाओं से युक्त, पापरूप अन्धकार को नष्ट करने वाला, करुणा या दयारूपी लताओं का वन, भव्य-जीवों के मन को प्रसन्न करने वाला आनन्दनिकेतन, भक्त लोगों का अघ (पाप) नाशक, सीता जी, सुग्रीव तथा हनुमान एवं विभीषण आदि सत्पुरुषों (के त्याग आदि गुणों) से विभूषित श्री रामचन्द्र जी का चरित्र शुभ (मङ्गल) पवित्र एवं पुण्य दायक है।

इस राम चरित्र की एक और विशेषता है वह यह कि इसे—

"श्री वर्धमानेन जिनेश्वरेण त्रैलोक्यवन्द्येन यदुक्तमादौ।
ततः परं गौतम संज्ञकेन गणेश्वरेण प्रथितं जनानां॥"

(रामचरित्र १८१)

सबसे पहले त्रिलोक पूज्य भगवान महावीर स्वामी ने कहा है। और बाद में उसी परम पावन रामचरित्र को गौतम गणधर ने जनता में प्रचारित किया है।

इसका कारण क्या है? यही कि भगवान श्री रामचन्द्र जी ने मर्यादा का उलघंन करने वाले आततताइयों से सदा धर्म की रक्षा की है। सनातन धर्म शास्त्रों में हजारों उदाहरण हैं। जैनधर्म शास्त्रों में भी दशांगनगर (वर्तमान मन्दसौर) के राजा वज्रकर्ण पर उज्जैन के राजा सिंहोदर के आक्रमण और अत्याचारों से मुक्ति, जैन मुनि कुलभूषण देपभूण के ऊपर पिछले जन्म के वैरी राक्षसों द्वारा किये गये उपसंग-उपद्रवों का निवारण आदि अनेक उदाहरण हैं। त्याग का आदर्श तो ऐसा

जैसा कहीं भी नहीं। राज्याभिषेक के लिये बुलाये गये, पर बनबास की आज्ञा मिली। आज्ञा शिरोधार्य करने के लिये वैसे ही अपने मस्तक को सहर्ष झुका दिया जैसा राजमुकुट धारण करने के लिये झुकाना था। मङ्गल दुन्दभि बजना बन्द हो गया पर श्री राम के हर्षोल्लास में कोई अन्तर नहीं आया।

अपनी प्यारी प्रजा के हित के लिये तो उन्होंने जिस उदारता का परिचय दिया उसकी आँकाक्षा में आज भी रामराज्य की आशा बड़ी प्रतिष्ठा के साथ की जा रही है। यह राम ही की उदार-भावना थी—

"स्नेहं दयां च सौख्यं च यदि वा जानकीमपि।
प्रजाजनानुरञ्जार्थं मुञ्चतो नास्ति मे व्यथा॥"

अपनी प्यारी प्रजा के अभीष्ट के लिये स्नेह, दया, सुख और आवश्यकता पड़ी तो प्राणप्रिया-जानकी को भी छोड़ने में मुझे कोई व्यथा नहीं होगी।

राम की धर्मभक्ति, धर्मभक्त संरक्षण, पितृभक्ति और जन संरक्षण, धैर्य और आदर्श राज्य (रामराज्य) संचालन आदि गुण उन्हें एक आदर्श भक्त, जन संरक्षक, सुयोग्य पुत्र, कुशल शासक तथा महान त्यागी प्रमाणित करते हैं। अस्तु।

श्री रामचन्द्र जी १४ वर्ष को पिता की आज्ञा से बन गये, पर महाबीर स्वयं पिता से आज्ञा मांग कर बन गये। बनवास से आकर श्री राम ने राज्य किया, महावीर ने घर छोड़ा सो ऐसा कि सदा को छोड़ा। राम के साथ बनबास में सीता और लक्ष्मण थे, सशस्त्र थे पर महावीर अकेले और निशस्त्र थे।

श्री राम तथा महावीर—दोनों ही राजकुमार थे, दोनों ही महावीर थे। दोनों हो महापुरुष थे, दोनों ही परम पद-मोक्ष को प्राप्त हुए हैं, दोनों हो अपने-अपने समय में जनता के कल्याण हेतु महान् आदर्श उपस्थित कर गये हैं। अपने सम सामयिक परिस्थितियों में जीवन निर्वाह, और आत्म कल्याण हेतु दोनों ने ही आवश्यकतानुसार अपने दृष्टिकोण रखे। दोनों ही हमारे आराध्य और पूज्य हैं; दोनों ही वह आदर्श चरण चिन्ह छोड़ गये हैं जिन पर चलकर हम अपना कल्याण कर सकते हैं।

श्रीकृष्ण और महावीर

कर्मयोगी भगवान् श्रीकृष्ण जैन धर्म के बाइसवें तीर्थङ्कर श्रीनेमिनाथ (अरिष्टनेमि) के समकालीन थे। श्रीकृष्ण के पिता वसुदेव और श्री नेमिनाथ जी के पिता द्वारिका के यदु-वंशी नरेश समुद्र विजय सगे भाई भाई थे। अतः उनके सगे चचेरे भाई भी थे। जैन शास्त्रों में वर्णित ६३ शलाका महापुरुषों में वे अन्तिम नारायण थे। हरिवंश पुराण, पाण्डव पुराण और नेमि पुराण में इनके पावन चरित्र के भव्य चित्रों का दर्शन होता है। आगे चलकर वे जैनधर्म के १२ वें तीर्थङ्कर होंगे। जैन धर्म में उनका व्यक्तित्व पूज्य है; वन्दनीय है।

दुःख सुख की लीला भूमि—संसार की समरस्थली या कहिये मोह माया के रङ्गमञ्च पर दोनों ही (श्री कृष्ण और महावीर) उस समय आये जब धार्मिक मान्यताओं को अपनी स्वार्थ साधना का साधन बनाकर लोग साधुओं का तिरस्कार

ग्रौर पापों के विस्तार में संलग्न थे। जनमानस त्रस्त हुए ग्रौर उन्हें सुनाई पड़ा—

"परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥"

श्रीकृष्ण को अपने जीवन के अस्तित्व तक के लिये बचपन से ही संघर्ष का साक्षात्कार करना पड़ा। कंश के अत्याचार मदमत्त कौरव-पाण्डवों द्वारा किया गया परिहास, चारों ग्रोर विद्रोहियों का जाल—उन्हें अपना सुदर्शन चक्र चलाने या कर्म भूमि पर कर्म करने से कैसे रोक सकता था ? उन्होंने कर्म किया ग्रौर निष्काम होकर किया—

"कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।"

"मानव कर्म करने में रत रहे परन्तु फल की इच्छा कभी न करे।" एक ग्रादर्श उपस्थित किया।

जो साधारण जन हैं वे कृष्ण लीला के वाह्य रूप को ही सत्यमान उसी में मग्न हो जाते हैं। कृष्ण की चीरहरण लीला का जो अध्यात्मिक रूप है उसे भूल जाते हैं। गोपियां इन्द्रियों की प्रतीक हैं। उनको वस्त्र विहीन करना वासनाग्रों से मुक्त करना है। रास लीला का रहस्य–इन्द्रियों के वासना प्राङ्गण में खेलते हुए भी उनके चक्कर से, उनके दूषित प्रभाव से सुरक्षित रहना है। वैसे ही जैसे जल में रहने वाला भी कमलपत्र जल से भिन्न रहता है। राधा कही जाने वाली गोप कन्या–ममता का रूपक है जिसके साथ उन्होंने रास रचायी पर चक्कर में नहीं पड़े, जिसके साथ खेले-ग्रौर सदा विजयी

रहे । 'ममता' को परास्त किया और अपने कर्मयोग का मङ्गल श्री गणेश किया । राधा (ममता) छट-पटाती रह गई और श्री कृष्ण जी अपने शासन (राज्य तथा स्वात्म शासन) में संलग्न हो गये । यमुना एक संसार रूपी नदी है जिसमें कषाय (क्रोध-मान-माया-लोभ का पुञ्ज) कालिया नाग है । उनकी वंशीं की मधुर तान इनके दिव्योपदेश का संगीत स्वर है ? अपनी बंशी की इसी मधुर तान को सुनाते हुए उन्होंने कालिया नाग-क्रोधादि कषायों का दमन किया था ।

महावीर की आत्मा भी इसी क्रोधादि कषाय, मोह-ममता और इन्द्रिय विजय के लिये छटापटा उठी थी । उसी सामाजिक विषमता का नाश करने के लिए उन्होने सामने उपस्थित पिता के राजपाट को छोड़ बन का मार्ग लिया था । तिरस्कृत, अप-मानित और दलितों के उद्धार हेतु उन्होंने अपना सर्वस्व त्याग दिया । 'जिओ सौर अपनी ही तरह दूसरों को भी जीने दो, एक आदर्श उपस्थित किया ।

श्री कृष्ण और महावीर दोनों ने ही दुनियाँ की बुराइयों का अन्त: निरीक्षण किया । दोनों ने ही लोक को मुक्ति का संदेश दिया । श्री कृष्ण को अपने जीवन के अस्तित्व की सुरक्षा, अन्याय अत्याचारों से संघर्ष तथा शासन व्यवस्था के लिये कर्म करना पड़ा अत: उन्होंने कर्मयोग का सन्देश दिया । महावीर को शान्ति के साथ सामाजिक और सांसारिक समस्याओं को सुलझाना पड़ा अत: उन्होंने अहिंसा का सन्देश दिया । श्री कृष्ण को सामाजिक क्षेत्र में अधिक रहना पड़ा, महावीर को

बहुत कम रहना पड़ा। दोनों ही बड़े कृपालु और दयालु थे। दोनों का उद्देश्य और कर्म जनता के कल्याण का था। अध्यात्मिक क्षेत्र में आत्मा और शरीर के सम्बन्ध में दोनों की विचार धाराएं अपना-अपना विशेष महत्व रखतीं हैं। दोनों का सिद्धान्त था—जो पापात्मा है वही पुण्यात्मा भी बन सकता है। दोनों की इन्ही विचार धाराओं का प्रतिबिम्ब सनातन धर्म और जैन धर्म में देखने को मिलता है।

"सर्व धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच॥"
(भगवान श्री कृष्ण)

"अपवित्रः पवित्रो वा सुस्थितो दुस्थितोऽपिवा।
यः स्मरेत् परमात्मानं स वाह्याभ्यन्तरे शुचिः॥"
(जैनधर्म)

किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि श्रीकृष्ण ने कर्मयोग का-कर्ममय सन्यास तथा महावीर ने अहिंसा सिद्धान्त को जन्म दिया है। अपितु सत्य यह है कि श्री कृष्ण ने कर्मयोग का व्यवस्थित निरूपण नये ढंग से किया है और महावीर ने पुनः अहिंसा का सार्थक एवं विशद रूप जनता के समक्ष रखा है। भारतीय संस्कृति बहुत उदार रही है अतः एक दूसरे धार्मिक विचारों का आदान प्रदान भी खूब होता रहा है।

श्रीकृष्ण और महावीर के जीवन तथा सिद्धान्त उनके सफल तथा पूज्य व्यक्तित्व के प्रतीक हैं। दोनों ही हमारे पूज्य हैं, दोनों ही हमारे आराध्य है।

भगवान् महावीर और महात्मा बुद्ध

महात्मा बुद्ध जैनधर्म के अन्तिम धर्मप्रचारक-तीर्थङ्कर महावीर स्वामी के समकालीन थे। महात्मा बुद्ध ने ही बौद्ध धर्म की स्थापना की थी। महावीर और बुद्ध की तुलना करते हुए प्रो० ल्यूमान ने लिखा है—"महावीर का जन्म ई० स० पूर्व ५७० के आसपास हुआ वह एक महान विजेता के रूप में प्रसिद्ध हुए। बुद्ध ई० स० पूर्व ५५० के लगभग जन्मे और बुद्ध अर्थात् ज्ञानी कहलाये। ये दोनों महापुरुष अर्हन्त (पूज्य) भगवन्त (प्रभु) और जिन (विजेता) के नाम से ख्यात थे। किन्तु महावीर की 'तीर्थङ्कर' संज्ञा उसी प्रकार निराली है जैसी बुद्ध की 'तथागत'। उसका कारण यह कि 'तीर्थङ्कर' शब्द का भावार्थ—'मार्ग दर्शक' और'तथागत' का भाावर्थ—'आदर्श रूप' है। बुद्ध का जन्म शाक्यकुल में होने के कारण वे 'शाक्यपुत्र' कहलाते थे। घर भाई बन्धुओं में उनका नाम 'सिद्धार्थ' भी था। बुद्ध नाम की अपेक्षा से उनके अनुयायी और उनका धर्म 'बौद्ध' कहे जाते हैं। महावीर को 'जिन' कहा जाता है इसलिए उनके अनुयायी और धर्म 'जैन' कहे जाते हैं। इस तरह भगवान महावीर और महात्मा बुद्ध दो प्रथक महापुरुष थे। दोनों के धर्म भी स्वतन्त्र थे। जैनधर्म बौद्धधर्म से बहुत प्राचीन है। बौद्ध धर्म के जन्मदाता महात्मा बुद्ध थे जब कि महावीर और बुद्ध के पहिले जैन धर्म का प्रचार करने वाले २३ तीर्थङ्कर और हो चुके थे।

बौद्ध धर्म के अनेक पारिभाषिक शब्द और सिद्धान्तों की

समता जैन धर्म में है। जैसे—अहिंसा, दया, मैत्री भावना, संसार और वासना से विरक्ति, कर्म सिद्धान्त, आस्रव, संवर-पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग दोनों धर्मों में हैं। परन्तु यह समता केवल शाब्दिक है अतः स्थूल रूप में है। जैन धर्म की अहिंसा के अनुसार आचरण करने वाला कोई व्यक्ति मद्य मांस का सेवन कभी नहीं कर सकता परन्तु बौद्ध धर्म के अनुयायी ग्रहस्थों द्वारा दिये गये ऐसे मांस का सेवन कर सकते हैं जो उनके भोजन के निमित्त से नहीं मारे गये पशु की हत्या से प्राप्त हुआ हो। प्रसन्नता यह है कि लङ्कावतार सूत्र में महात्मा गौतमबुद्ध ने मांसाहार का निषेध किया है। सुत्तनिपात के धार्मिक सुत्त में तो जैन धर्म की ही तरह स्थावर त्रस जीवों की रक्षा का विधान तथा रात्रि भोजन का भी निषेध किया है। कर्म सिद्धान्त की मान्यता भी स्थूल रूप से मिलती-जुलती है। बुद्ध के अनुसार रूप, वेदना, संस्कार और विज्ञान की सन्तति जब तक चलती है तब तक प्राणी को अनेक जन्मों में जैसे भ्रमण करना पड़ता है वैसे ही अपने शुभाशुभ कर्मों का फल भी भोगना पड़ता है। आस्रव के क्षीण होने पर कर्मक्षय होंगे कर्मक्षय होने पर मोक्ष प्राप्त होगा। परन्तु वहाँ यह अस्पष्ट है कि बुद्ध भी महावीर स्वामी की तरह कर्म को एक विशेष सूक्ष्म पुद्गल की आत्मा पर प्रक्रिया रूप मानते थे जो आस्रव, बंध और निर्जरा की अवस्थाओं से युक्त है। कारण यह है कि बन्ध तथा निर्जरा तत्व बौद्ध धर्म में नहीं है। इस प्रकार बाह्य सादृश्य हैं पर धार्मिक मान्यताओं में मतभेद है।

इस सादृश्य का कारण जैनाचार्य देवसेन के 'दर्शन सार' में यह मिलता है कि बुद्ध ने पहले कुछ दिन जैनधर्म की मुनिचर्या का पालन किया था। इस कथन का समर्थन बौद्ध ग्रंथ मज्झिम-निकाय से होता है जहाँ बुद्ध यह कहते देखे जाते हैं "वहाँ...... ......! मेरी यह तपस्विता थी—अचेलक (नग्न) था। मुक्ताचार हस्तापलेखन (हथेली पर रखकर भोजन करने वाला) नइहिमादन्तिक (बुलाई भिक्षा का त्यागी), न-तिष्ट-भदन्तिक (ठहरिये कह दी गई भिक्षा को), न अपने उद्देश्य से किये गये को, और न निमन्त्रण को खाता था। न मछली, न मांस, न सुरा पीता था, शाकाहारी था, केश दाढ़ी नोचने वाला था।" मज्झिम निकाय।१।२।२।

जैन ग्रंथों के अनुसार यह एक दिगम्बर जैन साधु की चर्या है। 'दर्शन सार' के अनुसार बुद्ध जैनाचार्य पिहिताश्रव के शिष्य रह चुके थे। परन्तु जैनचर्या कठिन प्रतीत होने के कारण वे बुद्धधर्म के प्रवर्तक हुए।

बुद्ध ने अपना मध्यम मार्ग चलाया। जिसमें गृहस्थों जैसी वासना न थी और न श्रमणों जैसी घोर तपस्या ही थी।

दोनों की तत्कालीन जनभाषा मागधी के रूप थे। दोनों सम्प्रदायों के नेताओं का विचरण क्षेत्र (विहार) भी एक था। दोनों की भाषा, भाव, शैली एवं वर्णन आदि में साम्य है। कभी कभी वे दोनों महात्मा एक ही नगर, एक ही गाँव और एक ही मोहल्ले में भी विचरण करते थे। दोनों के शिष्य तथा अनुयायियों का पारस्परिक सम्पर्क था। वे कभी कभी वाद-

विवाद और शङ्का समाधान भी किया करते थे। भगवान् महावीर की सर्वज्ञता पर उनका विश्वास था। यही कारण है कि मज्झिमनिकाय, न्यायबिन्दु, अंगुत्तरनिकाय, और संयुक्त-निकाय इन चारों बौद्ध ग्रन्थों में भगवान् महावीर को सर्वज्ञ, समदर्शी, अनन्त ज्ञानधारी, सर्वद्रष्टा, सम्पूर्ण दर्शन और ज्ञान से संयुक्त, आदि विशेषताओं से युक्त माना गया है। डॉ० ल्यूमान ने महावीर और बुद्ध की तुलना करते हुए लिखा था—"महावीर केवल साधु ही नहीं, तपस्वी भी थे। किन्तु बुद्ध को बोध प्राप्त होने पर वह तपस्वी न रहे, मात्र साधु रह गये। बुद्ध ने अपना पुरुषार्थ जीवनधर्म पर लगाया। इस प्रकार महावीर का उद्देश्य आत्मधर्म हुआ तो बुद्ध का लोकधर्म। बुद्ध ने अपना उद्देश्य 'आत्म-धर्म' से विकसित करके 'लोक-धर्म' स्थिर किया इसी कारण वह प्रख्यात भी खूब हुए। बुद्ध की दृष्टि लोक समाज पर लगी–वह सबके थे और उनका आत्मयोग भी सबके लिए था। इस प्रकार उनका धर्म महावीर के धर्म से सर्वथा—स्पष्ट रीति से जुदा ठहरता है। महावीर के धर्म में सर्वोच्च भावना आत्मयोग और आत्मत्याग की है। 'प्रत्येक बुद्ध' और 'बुद्ध' इन दो शब्दों का अर्थ भेद दोनों महापुरुषों के भेद को स्पष्ट करता है। प्रत्येकबुद्ध का अर्थ यह कि—'जो अपने लिये ज्ञानी हुआ हो। और बुद्ध का अर्थ यह कि 'वह पुरुष जो सबके लिये ज्ञानी हुआ हो।' पहला ज्ञानी एकान्त में रहता हुआ अपनी आत्मशुद्धि करके संतोष मानता है। दूसरा लोक समाज में विचरते और उपदेश देते हुए भी आत्मशुद्धि का

प्रयत्न करता है। महावीर को एकान्तवासी 'प्रत्येकबुद्ध' की संज्ञा तो दी नहीं जा सकती क्योंकि वह भी लोक समाज में विचरते थे। बुद्ध की तरह महावीर के भी अनेक शिष्य थे और उनका अपना संघ भी था। महावीर संघ का विस्तार भी होता रहा है। भारत की सीमा के बाहर यद्यपि उनका विस्तार अधिक नहीं हुआ परन्तु भारत में उसका अस्तित्व आज तक है। अतः महावीर का स्थान 'प्रत्येकबुद्ध' से ऊंचा है। निःसन्देह महावीर उन पुरुषों में से थे जो आत्म-चिन्तवन पर विशेष ध्यान देते थे। और उनके शिष्यगण आत्मोद्धार के लिये विशेष पुरुषार्थ करते थे। इस प्रकार प्रत्येकबुद्ध और बुद्ध इन दोनों श्रेणियों के ऊपर महावीर थे।"

वस्तुतः भारत वर्ष इन दोनों ही महापुरुषों का चिर ऋणी है। वह वे विभूतियां थीं जिनकी सुधारक सफल विचारधारा ने धधकती यज्ञ-ज्वालाओं को शान्त किया, जगत से हिंसा को हटाया और निरपराध मारे जाने वालों को जीवन दान दिया। अहिंसा की वह मन्दाकिनी प्रवाहित की जिसकी पावन सलिलधारा में स्नान कर अशान्त मानव मन शान्ति प्राप्त करता है। युद्ध की ओर जाने वाले लालची राष्ट्रों को आज भी भारत अहिंसा का आश्रय लेने की सम्मति देता है। यही कारण है कि विश्व शान्ति के लिये भारत आज नेतृत्व करने की क्षमता रखता है। शान्ति विधायक भारत के प्रधान मंत्री पूज्य पं० श्री नेहरू जी जहां जाते है, परराष्ट्र उनसे ही अपनी समस्या का समाधान पूछते नजर आते हैं! भारत के प्रत्येक

नागरिक के मन में अहिंसा की छाप पड़ी हुई है, और वह अमिट है। अहिंसा बापू का दिया हुआ वह अमोघ मन्त्र है जो उन्होंने महावीर और बुद्ध की परम्परा से प्राप्त किया था और जिसे हमारे प्रधान मंत्री विश्व-मैत्री के सद् उद्देश्य से सब के कानों में फूंक रहे हैं।

दोनों ही महापुरुषों ने लोक कल्याण की भावना से सांसारिक सुखों का त्याग कर अपने जीवन दीप को जलाया था, संसार को प्रकाश दिया था। दोनों के चरण चिन्हों पर चलकर भारत अपने आदर्श को चिरस्थायी रखेगा। हम इन विश्व विभूतियों की पुण्यस्मृति में अपनी श्रद्धांजलि समर्पित करते हैं।

महावीर निर्वाणोत्सव–दीपावली

आज भी मनुष्य के सामाजिक व राष्ट्रीय जीवन में पर्व और त्यौहारों का वही महत्व है जो उनके प्रारम्भिक प्रचलन के समय सोचा गया होगा। महत्व तो उससे होने वाले लाभों से अनुमानित किया जा सकता है पर उसके उद्गम के कारणों पर निश्चयतः पहुंचना कठिन होता है। उसके दो कारण हैं, एक तो यह कि उनका परिचय वर्णनात्मक प्रधानता संयुक्त है, ऐतिहासिकता से शून्य या दूर है। दूसरा यह कि प्रचलित, अनेक मत-मतान्तर—धार्मिक विभिन्नता एवं मान्यताओं के विभ्रम में उस वास्तविकता तक पहुँचना कठिन हो गया है। त्यौहारों का विषम वर्गीकरण भी एक कारण है। भारतीय त्यौहारों का वर्गीकरण ऋतु, इतिहास, कुटुम्ब तथा धर्म के आधार पर किया गया है परन्तु खेद है कि धार्मिक त्यौहारों

में केवल शैव, वैष्णव, शाक्त ग्रौर गणपति के त्यौहारों को ही धार्मिक त्यौहार कहा गया है। जैन-धर्म ग्रौर बौद्ध-धर्म कोई धर्म प्रतीत नहीं हुए! ग्रौर न उनके त्यौहार त्यौहार प्रतीत हुए। मेरे ग्रपने विचार से यदि त्यौहार ऋतु तथा फसल सम्बन्धी, ऐतिहासिक, सौर, सामाजिक, धार्मिक तथा राष्ट्रीय यह सात प्रकार ही माने जायं तो सभी भारतीय त्यौहार इसमें समाविष्ट हो जायेंगे। ग्रस्तु। जैसा कि लोग मानते हैं दीपावली ऋतु ग्रपेक्षित त्यौहार नहीं है वह एक इतिहास समर्थित विशुद्ध धार्मिक त्यौहार है। दीपावली की उत्पति के जो ग्रन्य कारण बताये हैं वह यह हैं—

१. ऋतु परिवर्तन के उपलक्ष में,
२. शालि—धान्य की फसल के ग्रन्त होने के उपलक्ष में
३. ग्रागामी फसल के लिये खेत की तैयारी के उपलक्ष में,
४. सूर्य तुलाराशियुक्त होने के उपलक्ष में,
५. रामचन्द्र जी के राज्याभिषेक के उपलक्ष में,
६. विक्रमादित्य के सम्वत् प्रवर्तन के दिन के उपलक्ष में।

परन्तु यह सभी कारण जनश्रुति मात्र हैं। प्रथम चार जन-श्रुतियाँ ऋतु तथा फसल के महत्व को घोषित करती हैं। उसमें दीपोत्सव ग्रसंगत प्रतीत होता है। श्री रामचन्द्रजी के राज्या-भिषेक के उपलक्ष में दीपावली मनाने का उल्लेख रामायण ग्रादि ग्रंथों में नहीं मिलता। विक्रमादित्य के सम्वत् प्रवर्तन के दिवस के उपलक्ष में ही दीपावली जैसा उत्सव बताने के लिये तात्कालिक इतिहास, धर्मग्रंथ या साहित्य मौन है। इसके

अतिरिक्त आर्य समाज के महर्षि दयानन्द जी, सिक्खों के छठे गुरु श्री हरगोविंद जी का निर्वाण, सम्राट् अशोक की दिग्विजय, विष्णु भगवान का आदेश, यमराज द्वारा अभय दान या वर-दान की आशा में भी दीपावली का होना कहा जाता है ; परन्तु दीपावली महर्षि दयानन्द और गुरु हरगोविंद जी से पहले से ही मनाया जाता आ रहा है। अशोक की दिग्विजय के उपलक्ष में होना इतिहास समर्थित नहीं है। विष्णुजी का आदेश और यमराज द्वारा अभयदान या वरदान की आशा का उल्लेख स्पष्ट रूप से किसी प्रामाणिक साहित्य में नहीं मिलता।

तो दीपावलीका उत्सव कहां से आया ? प्रश्न का उत्तर बिल्कुल स्पष्ट है। ईसवीं सन् से ५२७ वर्ष, विक्रम संवत् से ४७० वर्ष तथा शक से ६०५ वर्ष ५ माह पूर्व कार्तिक कृष्ण १४ की रात तथा अमावस की मङ्गल प्रभात वेला में ७२ वर्ष की आयु में मल्लों की पावापुरी में भगवान् महावीर स्वामी ने निर्वाण प्राप्त किया। इस के उपलक्ष में लिच्छवि-मल्लकि आदि राजाओं ने दीपोत्सव किया। स्वर्ग के देवताओं ने रत्न बरसा कर वसुधाको वसुन्धरा बना दिया और जनता ने दीपक जला-कर जगती को जगमगा दिया। इस कथन की पुष्टि दीपावली विषयक भारतीय साहित्य में सर्व प्राचीन जैन ग्रन्थ 'कल्पसूत्र' से होती है। उसी का समर्थन जैन हरिवंश पुराण में मिलता है—

"जिनेन्द्र वीरोऽपि विबोध्य संततं संमततो भव्यसमूहसंततिम्।
प्रपद्य पावानगरीं गरीयसीं मनोहरोद्यान वने तदीयके ॥१५॥

चतुर्थकालेऽर्धचतुर्थमासकै विहीनताविश्चतुरब्द शेषके ।
सकार्तिके स्वातिषु कृष्णभूत प्रभातसंध्या समयेस्वभावतः ॥१६॥
अघातिकर्माणिनिरुद्धयोगको विधूयघातीन्धनवद्विबंधनः ।
विबंधनस्थानमवाप्यशंकरो निरंतरायोरु सुखानुबंधनम् ॥१७॥
ज्वलत्प्रदीपालिकया प्रबुद्धया सुरासुरैर्दीपितया प्रदीप्तया ।
तदास्म पावानगरीसमंततः प्रदीपिताकाशतला प्रकाशते ॥१८॥
तदस्तु लोकः प्रतिवर्षमादरात् प्रसिद्ध दीपालिकयात्र भारते ।
समुद्यतः पूजयितुं जिनेश्वरं जिनेन्द्रनिर्वाणविभूतिभक्तिभाक् ।१६।
(हरिवंश पुराण सर्ग ६६)

"जादो सिद्धो वीरो तद्दिवसे गोदमो परमणाणी ।
जादो तस्सिं सिद्धे सुधम्मसामी तदो जादो ॥"
(तिलोयपण्णत्ति अधि० ८ गाथा १४७६)

"उसी दिन भगवान के प्रथम गणधर इन्द्रभूति गौतम को केवलज्ञानलक्ष्मी प्राप्त हुई थी" जिसकी देवों ने भी पूजा की थी। वस्तुतः दिवाली महावीर स्वामी का निर्वाण उत्सव है परन्तु गौतम गणधर इन्द्रभूति को केवल ज्ञान-प्राप्ति के उपलक्ष में दिवाली को (ज्ञान लक्ष्मी) सरस्वती की पूजा का भी त्योहार माना गया है। परन्तु इस पैसा प्रधान युग में हंस-वाहिनी—ज्ञान लक्ष्मी की पूजा न होकर उलूक वाहिनी—धन लक्ष्मी की पूजा को प्रधानता मिल गई है। इस दिन चौदस निर्वाण चौदस कही जाती है, जैन धर्मानुयायी सायंकाल दीपक जलाकर घर के द्वार पर रखते हैं। एक बड़े दीपक को रात भर जलाकर रखते हैं जिसे 'यम का दीपक' कहा जाता है। महावीर ने इस दिन मृत्यु या यम पर अद्वितीय विजय

कल्पसूत्र के पश्चात् दिवाली का उल्लेख कामसूत्र (सन् ५०–४००) में 'यक्षरात्रि' के नाम से किया गया है। तदनन्तर यशोधर ने उसे 'सुखरात्रि' नाम दिया। आगे चलकर नीलमत पुराण में (सन् ५६० से ८०० के मध्य) 'सुख सप्तिका' के नाम से, देशी नाममाला में (सन् १०८८ से ११७२) 'जक्ख रत्ती' और इसके बाद त्रिकाण्ड शेष (सन् ११००–११५६) में इसे 'दीपाली' की संज्ञा मिली। आगे चलकर यही 'दीपाली' 'दीपावली', 'दीवाली' 'दिवाली' आदि अनेक रूपों में प्रचलित होती रही।

कुछ भी हो श्री मार्गरेट स्टीवेन्सन ने लिखा है—"पर्यूषण के उपरान्त जैनियों का दूसरा पवित्र त्योहार दीवाली है।... जब भगवान् महावीर का निर्वाण हुआ तो उनका निर्वाणोत्सव १८ लिच्छवि मल्लकि एवं अन्य राजाओं ने यह कहते हुए मनाया कि 'ज्ञान का प्रकाश लुप्त हो गया है। अतः आओ भौतिक (दीपों का) प्रकाश फैलाएं।' (कल्पसूत्र SBE भाग २२ पृ० २६६) जैनी दीवाली चार दिन तक मनाते हैं।" चार दिन हिन्दू भाइयों द्वारा दिवाली मनाया जाना भी उन्होंने स्वीकार किया है उसे हम भी मानते हैं क्योंकि उस समय चारों वर्णों के व्यक्तियों की आस्था या श्रद्धा महावीर स्वामी के प्रति होना स्वाभाविक है। हिन्दूधर्मशास्त्रों में नीलमत पुराण, आदित्यपुराण, पद्मपुराण, वामनपुराण से लेकर 'आकाश भैरव कल्प' पर्यन्त सन् ५०० से १६०० ई० तक दीवाली को अनेक नामों से मानने के विविध प्रकार पाये जाते हैं परन्तु दीवाली के उद्गम का कारण बताने के लिये सभी मौन दिखते हैं।

दीवाली का जो चौथा दिन है—कार्तिक शुक्ल प्रतिपद् उसे वामन पुराण में 'वीर प्रतिपदा' नाम दिया गया है। स्पष्ट है कि महावीर का ही दूसरा नाम 'वीर' है। अतः दीवाली का यह अन्तिम दिन भी महावीर स्वामी के नाम पर ही त्यौहार रूप में माना जाता है।

अब तो यही लगता है कि दीवाली एक सर्वश्रेष्ठ राष्ट्रीय त्यौहार है। महावीर धर्म, वर्ण, जाति और समाज के सभी बन्धनों से स्वतन्त्र थे। वे सबके थे, सब उनके थे। अतः दीवाली जैन त्यौहार है या हिन्दू त्यौहार ? यह प्रश्न ही न आना चाहिए। दीवाली सबका त्यौहार है। एक राष्ट्रीय पर्व २६ जनवरी की तरह इसे राष्ट्रीय पर्व के रूप में मनाने की आवश्यकता है। जब यह राष्ट्रीय पर्व के रूप में मनाया जायगा तो सभी का त्यौहार होगा, जनश्रुतियों में जितने कारण दीवाली मनाने के मिलते हैं सब सत्य सिद्ध होंगे, विवाद की सीमा रेखा टूट जायगी। उस दिन सब प्रसन्न होंगे। मेल की भावना से हिन्दू, बौद्ध, सिख, जैन, पारसी, मुसलमान, ईसाई सब भाईयों के हृदय मन्दिर एकता की रोशनी से जगमगा उठेंगे। एक साथ सब बोल उठेंगे—

'भगवान् महावीर की जय'